

सन्येह है—क्या अग्निचयन-प्रकरण में पठित ये अखण्डत्व आदि धर्म अप्रकरण-पठित इष्टों के करने चाहिए? अथवा नहीं करने चाहिए? सभीप में पठित न होने से ये नहीं करने चाहिए, ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

अग्न्यज्ञमप्रकरणे तदृत् ॥३५॥

[अप्रकरणे] अप्रकरण में पठित चित्रिणी आदि इष्टकाएँ भी [अग्न्यज्ञम्] अग्निचयन कर्म के अज्ञभूत हैं, इसलिए ये भी [तदृत्] अंशु-अदाभ्य ग्रहों के ग्रह-धर्मों से संयुक्त होने के समान अखण्डत्व आदि धर्मों से संयुक्त होती हैं।

गत अधिकरण में अप्रकरण-पठित अंशु-अदाभ्य ग्रहों को—ज्योतिष्ठोम का अज्ञ होने के कारण—ज्योतिष्ठोम प्रकरण में पठित ग्रह-धर्मों से संयुक्त होने का जिस प्रकार उपचादन किया गया है, उसी के अनुसार अप्रकरणपठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं को—अग्निचयन कर्म का अज्ञभूत होने के कारण—अग्निचयन-प्रकरण में पठित अखण्डत्व आदि इष्टका-धर्मों से संयुक्त मानना चाहिए। जैसे अंशु आदि ग्रह ज्योतिष्ठोम की सम्पन्नता को पूरा करते हैं, ज्योतिष्ठोम के उपकारक हैं, ऐसे ही अग्निचयन में इष्टकाएँ न केवल उपाकरण हैं, अपितु यज्ञमण्डप-रूप में उसकी रचना के प्रधान साधन हैं। इसलिए अप्रकरण-पठित भी चित्रिणी आदि इष्टकाओं के अखण्डत्व आदि धर्म करने ही चाहिए ॥३५॥ (इति चित्रिण्यादीष्टकानामग्न्यज्ञताऽधिकरणम्—१२) ।

(मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताऽधिकरणम्—१३)

ज्योतिष्ठोम के प्रसंग में पाठ है—‘स यदि राजन्यं वैश्यं याजयेत् । स यदि सोमं विभक्षयिषेत्, न्यग्रोधस्तिभीराहत्य ताः सम्पद्य दधनि उन्मृज्य, तमस्मै भक्षं प्रयच्छेत् न सोमम्’—यदि वह याज्ञिक क्षत्रिय या वैश्य को यजन कराये, वह धात्रिय या वैश्य सोम का भक्षण करना चाहे, तो न्यग्रोधस्तिभियों—बड़ी की कलियोंव कोमल पत्तों को लाकर, उन्हें पीसकर, दही में मिलाकर, क्षत्रिय अथवा वैश्य को वह भक्ष देवे, सोम न देवे। न्यग्रोध-स्तिभियों के रस को जिस पात्र में रखका जाता है, उसका नाम ‘फल चमस’ है। ज्योतिष्ठोम-प्रसंग में सोम के धर्म बताये हैं—मान—परिमाण, प्रत्येक सबन के लिए निर्धारित परिमाण में सोम का ग्रहण किया जाता है। ‘दशमुष्टीमिमीते’ [आप० थो० १२।६।५] दस मुट्ठी सोम

१. क्रय और अभिषव सोमधर्मों के आधार पर इस अधिकरण का ‘क्रयाभिषव-बादीनां सोममात्रधर्मताऽधिकरणम्’ नाम भी बताया गया है।

मापता है। उपावहरण—हविर्धन-शकट में स्थापित सोम को अभिष्वव के लिए ग्रहण कर अभिष्ववस्थान के समीप लाना। क्रय—मूल्य निर्धारित कर खरीदना। अभिष्वव—सोम को ग्रादों पर रख के कूट-पीसकर रस निकालना।

इन सोम-धर्मों के विषय में सन्देह है—वया ये धर्म सोम और फलचमस के समान हैं? अथवा केवल सोम के धर्म हैं? यदि दोनों के ये समान धर्म हैं, तो फलप्राप्ति-रूप गुण की कामना से सोमयाग करनेवाले क्षत्रिय व वैश्य यजमान की न्यग्रोधस्तिभिर्यों के रस से याग करने की प्रवृत्ति होगी। यदि केवल सोम के धर्म माने जाते हैं, तो सोम का प्रतिनिधि होने से फलचमस सोम का विकास होगा, तथा मान आदि धर्म अतिदेश-वाक्य से फलचमस में प्राप्त होगे। उस अवस्था में जैसे काम्यकर्म दर्श-पूर्णमास आदि ब्रीहि हविद्रव्य के अभाव में उसके प्रतिनिधि नीबार से नहीं किये जाते, इसी प्रकार काम्य सोमयाग में विकृति फलचमस से क्षत्रिय व वैश्य की प्रवृत्ति न होगी। इस विषय में मान्य वया होना चाहिए? सोम और फलचमस दोनों का एक प्रकरण में विधान होने से मान आदि धर्म दोनों के समान समझे जाने चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने अभिमत सिद्धान्त बताया—

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥३६॥

[नैमित्तिकम्] क्षत्रिय आदि निमित्त से प्राप्त होनेवाली न्यग्रोध-स्तिभिर्याँ [अतुल्यत्वात्] सोम के तुल्य—समान न होने से [असमानविधानं स्यात्] सोम और न्यग्रोधस्तिभी-धर्मियों का विधान समान नहीं है।

सोम नित्यविधि है, किसी का प्रतिनिधि नहीं है। फलचमस के उपादान-तत्त्व न्यग्रोध-स्तिभिर्याँ सोम के प्रतिनिधि हैं, तथा क्षत्रिय आदि निमित्त से प्राप्त हैं, इसलिए नैमित्तिक हैं। नैमित्तिक विधान नित्यविधि के विकार माने जाते हैं। ज्योतिष्टोम के हविद्रव्य की आकांक्षा होने पर सर्वप्रथम सोम उपस्थित होता है, साथ ही उसके मान आदि धर्म उपस्थित हैं; शास्त्रीय दृष्टि से मान आदि सोम के संस्कार कहे जाते हैं। संस्कृत सोम को प्रस्तुत कर ये चरितार्थ हो जाते हैं, तब अन्यत्र इनकी प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए मान आदि केवल सोम के धर्म हैं, फलचमस के नहीं।

यह भी ध्यान देने योग्य है, यदि मान आदि को सोम के समान ही फलचमस का धर्म माना जाता है, तो इसमें हिरुक्ति-दोष प्राप्त होता है। प्रथम, सीधे विधान से प्राप्त होंगे; दूसरे, नैमित्तिक फलचमस के विकृति होने के कारण 'प्रकृति-वह्निकृतः कर्त्तव्यः' अतिदेश-वाक्य से धर्मों की प्राप्ति होगी। शास्त्रीय दृष्टि से इसे अभीष्ट नहीं माना जाता। इसलिए भी मान आदि को फलचमस का धर्म

मानना युक्त नहीं है ॥३६॥ (हनि मानोपावहरणादीनां सोममात्रधर्मताऽधिकरणम्—१३) ।

(प्रतिनिधिष्ठवपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—१४)

विहित हृविद्रव्य के नष्ट या विकृत हो जाने पर उसके प्रतिनिधि द्रव्य का विधान सास्त्र में देखा जाता है, जैसे ब्रीहि के निर्वाप से लेकर आहूति देने से पूर्व तक यदि ब्रीहि अथवा उससे बना पुरोडाश नष्ट या विकृत हो जाता है, तो दुबारा ब्रीहि का निर्वाप न होकर उसके प्रतिनिधि द्रव्य नीवार से पुरोडाश तैयार किया जाता है । विना जोते-बोये उत्पन्न धान्य 'नीवार' कहाता है । पूर्व में इसे 'तिन्नी' [तृणधान्य] तथा ब्रज-जनपद में 'कोदों' कहते हैं, जो 'कदन्न' पद का अपभ्रंश है ।

ब्रीहि के प्रतिनिधि नीवार के विषय में सन्देह है—क्या नीवार ब्रीहि के समान विधान वाले हैं? अथवा समान विधानवाले नहीं हैं? गत अधिकरण में प्रतिपादित अर्थ के अनुसार नीवार ब्रीहि के समान धर्मवाले नहीं होने चाहिए ।

इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥

[प्रतिनिधि:] प्रतिनिधि द्रव्य [च] भी [तद्वत्] जैसे नैमित्तिक समानविधान नहीं है, वैसे ही प्रतिनिधिद्रव्य भी समानविधान नहीं हैं ।

गत अधिकरण में निश्चित किया गया—नैमित्तिक हृविद्रव्य न्यग्रोध-स्तिभियाँ नित्य हृविद्रव्य सोम के समान विधान नहीं हैं । उसी प्रकार ब्रीहि का प्रतिनिधि हृविद्रव्य नीवार नित्य हृविद्रव्य ब्रीहि के समान विधान नहीं है । असमानता या अतुल्यता यही है कि ब्रीहि के निर्वाप आदि धर्मविहित हैं, परन्तु नीवार के विहित नहीं हैं, प्रयोजनवश प्राप्त होते हैं ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

न तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥

[न] प्रतिनिधि हृविद्रव्य असमान विधान नहीं है, क्योंकि वह [तद्वत्] उसी हृविद्रव्य के समान होता है, जिसका साक्षात् विधान है, [प्रयोजनैकत्वात्] मुख्य द्रव्य और प्रतिनिधि द्रव्य दोनों का प्रयोजन एक होने से । यज्ञ-निष्पादन-प्रयोजन में दोनों द्रव्यों का स्तर समान है ।

किसी हृविद्रव्य के प्रतिनिधि द्रव्य का निर्धारण उन द्रव्यों के समान गुणों के आधार पर किया जाता है । प्रतिनिधि द्रव्य की आवश्यकता मुख्य द्रव्य के अभाव में होती है । ब्रीहि से एक बार पुरोडाश तैयार किये जाने पर यदि यह किसी

कारण नष्ट या विकृत हो जाता है, तो दुबारा ब्रीहि से पुरोडाश पुनः तैयार किया जा सकता है। यह जो कहा गया कि ब्रीहि-पुरोडाश नष्ट हो जाने पर पुनः ब्रीहि से पुरोडाश तैयार न कर उसके प्रतिनिधि द्रव्य नीवार से करें, यह कोई अनिवार्य व्यवस्था नहीं है। प्रतीत होता है, यजमान की आर्थिक स्थिति का ध्यान रखते हुए ऐसा कहा गया है। दुबारा ब्रीहि क्रय करने में यजमान की आर्थिक स्थिति सहयोग न दे रही हो, तो वह ब्रीहि के प्रतिनिधि नीवार धान्य से यज्ञ-निष्पादन कर ले। ऐसी स्थिति में विहित द्रव्य ब्रीहि के निर्वाप आदि जो धर्म विधान किये गये हैं, नीवार में उनका प्रयोग किये बिना पुरोडाश का तैयार किया जाना सम्भव नहीं। अतः विहित द्रव्य के धर्मों का प्रयोग आवश्यक है। प्रतिनिधि का स्तर—जिसका वह प्रतिनिधि है—पूर्णरूप में उसके समान होता है। इसलिए विहित द्रव्य के धर्मों को प्रतिनिधि द्रव्य में प्रयोग किये जाने से रोका नहीं जा सकता।

गत सूत्र द्वारा इसके विरोध में न्यग्रोध-स्तिभियों का जो दृष्टान्त दिया गया है, वह विषम दृष्टान्त है; यहाँ लागू नहीं होता, क्योंकि न्यग्रोध-स्तिभियाँ सोम की प्रतिनिधि नहीं हैं। यदि प्रतिनिधि होती, तो केवल क्षत्रिय-वैश्य के लिए उनका विधान न होकर ब्राह्मण आदि सबके लिये समान होता। फलतः ब्रीहि का प्रतिनिधिद्रव्य नीवार ब्रीहि के समान विधान है, तथा ब्रीहि के निर्वाप आदि धर्म पूर्ण-रूप से उसमें किये जाते हैं ॥३८॥

विहित द्रव्य के धर्मों का उसके स्थानीय द्रव्य में प्रयोग न किया जाना वहीं मात्र है, जहाँ शास्त्रीय दृष्टि से उनमें परस्पर प्रकृति-विकारभाव की स्थिति हो, जैसा सोम और न्यग्रोध-स्तिभियों के विषय में बताया गया है। वह स्थिति ब्रीहि-नीवार में नहीं है। इसी अर्थ को सूत्रकार ने बताया—

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥३९॥

प्रतिनिधिद्रव्य के [अशास्त्रलक्षणत्वात्] शास्त्रीय दृष्टि से किसी का विकार न होने के कारण [च] भी मुख्य विहितद्रव्य और प्रतिनिधिद्रव्य में परस्पर प्रकृति-विकारभाव नहीं है।

विहितद्रव्य के अभाव में यान की सिद्धि के लिए समानगुण अन्य द्रव्य को उसके प्रतिनिधिरूप में शास्त्र मान्यता देता है। प्रतिनिधिद्रव्य को पूर्वश्रुत द्रव्य का विकार किसी भी शास्त्रदृष्टि से नहीं माना गया। इसलिए पूर्वश्रुत द्रव्य के धर्मों का प्रयोग प्रतिनिधिद्रव्य में किया जाना पूर्णतः निर्वाप है ॥३९॥ (इति प्रतिनिधिद्रव्यपि मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—१४)।

(श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकरणम्—१५)

जो प्रतिनिधिद्रव्य श्रुत है, अर्थात् वाक्य द्वारा विहित हैं, जैसे कहा—'यदि

सोमं न विन्देत्, पूतीकानभिषुण्यात्—यदि सोम को प्राप्त न कर पाये, तो पूतीक लता का अभिषव करे। गत अधिकरण में अथवा का प्रतिनिधित्व बताया है; पर यह श्रुत होने के कारण उससे विपरीत है। इसलिए सन्देह होता है—बया यहाँ समानविधित्व है? अथवा नहीं है? यदि नहीं है, तो श्रुति असंगत होती है। यदि प्रतिनिधित्व सम्भव नहीं, तो श्रुति द्वारा प्रतिनिधित्व क्यों कहा गया? यदि श्रुति-बोधित प्रतिनिधित्व है, तो सन्देह का अवकाश ही नहीं रहता। ऐसी स्थिति में सूत्रकार ने बताया—

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

[गुणश्रुतिः] 'पूतीकानभिषुण्यात्' यह पूतीक के प्रतिनिधित्व-रूप गुण की श्रुति[नियमार्था]नियम के लिए है, अर्थात् अनेक प्रतिनिधि प्राप्त होने पर केवल एक पूतीक ओषधि के प्रतिनिधित्व को व्यवस्थित करती है।

सोम के अभाव में सोमयाग करने की भावना से सोम के सदृश गुणवाले द्रव्य की अपेक्षा होने पर अनेक द्रव्यों की उपस्थिति सम्भव रहती है, जैसे पूतीक^१, न्यग्रोधस्तिभी, गुडूची (गिलोय) आदि। ऐसी दशा में आचार्यों ने व्यवस्थित किया कि सोम के अभाव में केवल पूतीक लता द्रव्य से सोमयाग सम्पन्न करना चाहिए, अन्य द्रव्य से नहीं।

यह व्यवस्था अनिवार्य अथवा एकमात्र स्थायी नहीं है। तात्पर्य है—सोम-अभाव में पूतीक एकमात्र अन्तिम द्रव्य हो, ऐसा नहीं है। काठक संहिता [३४।३] में पाठ है—'यदि सोमं न विन्देयः पूतीकानभिषुण्यः, यदिन पूतीकान् आर्जुबनि' सोम के अभाव में पूतीक और पूतीक के अभाव में अर्जुन-कलियों का विधान किया गया है। इससे ज्ञात होता है, यह व्यवस्था द्रव्यविषयक न होकर यागविषयक सम्भली चाहिए। सोम के अभाव में जो भी समानगुण द्रव्य मिले, उसीसे यागानुष्ठान अवश्य करे ॥४०॥ (इति श्रुतेष्वपि प्रतिनिधिषु मुख्यधर्मानुष्ठानाधिकारणम्—१५)।

(दीक्षणीयादिधर्मणामग्निष्टोमाङ्गताऽधिकरणम्—१६)

सोमयाग की सात संस्थायें हैं—अग्निष्टोम, उक्त्य, घोड़वी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय, आप्तोर्गाम। इनमें पहली चार संस्थायें मुख्य हैं। 'संस्था' पद का अर्थ समाप्ति है। संस्थाओं का नामकरण, स्तोत्रों से कर्म की समाप्ति के आधार पर हुआ है। अग्नि देवतावाले स्तोत्रों = स्तोत्रों = स्तुतिमन्त्रों से जिस कर्म की समाप्ति होती है, उसका नाम अग्निष्टोम है। इसी प्रकार उक्त्य, घोड़वी, अति-

१. 'करंजवा' नाम से लोकप्रसिद्ध एक भाड़ है। यह दो प्रकार का होता है—काँटेवाला और बिना काँटे का। काँटेवाले करंजवा का नाम पूतीक है।

रात्र आदि स्तोम विशेष हैं; उन संस्थाओं के अन्त में वह-वह स्तोम रहता है। उसी आधार पर उनके नाम हैं। सोमयाग को ये चार संस्थाएँ—अग्निष्टोम, उक्थ्य, पोडशी, अतिरात्र मुरुग्य मानी जाती हैं। सब संस्थाओंवाले सोमयाग का सामान्य नाम ज्योतिष्टोम है। इन स्तोमों के देवताओं में ज्योतिर्मय अंश विद्यमान हैं। इसमें सन्देह है—क्या सब संस्थाओंवाले ज्योतिष्टोम को प्रकृत करके दीक्षणीय आदि धर्म कहे हैं? अबवा केवल अग्निष्टोम को अभिप्रेत करके कहे हैं? इन सबका प्रकरण एक होने से सभी संस्थाओंवाले ज्योतिष्टोम के ये धर्म होने चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वप्रक्षेपण में प्रस्तुत किया—

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥४१॥

[संस्थाः] अग्निष्टोम आदि संस्थाएँ [समानविधानाः] समान विधानवाली हैं, अर्थात् सबका विधान एक ही प्रकार किया गया है, [प्रकरणाविशेषात्] प्रकरण के अविशेष = मिन न होने से।

दीक्षणीय इष्ट, दीक्षा, प्रायणीय इष्ट आदि धर्मों का विधान ज्योतिष्टोम पद से कही जानेवाली सभी संस्थाओं के अभिप्राय से किया गया है; केवल अग्निष्टोम संस्था के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि इन सबका विधान एक प्रकरण में हुआ है। प्रकरण का कोई भेद नहीं है, जिससे यह कहा जाय कि अग्निष्टोम के ये धर्म हैं, उक्थ्य आदि अन्य संस्थाओं के नहीं हैं। इसलिए दीक्षणीयेष्ट आदि धर्मों का सम्बन्ध सभी संस्थाओं से माना जाना चाहिए। इनका प्रयोग सब संस्थाओं में किया जाय ॥४१॥

इसी अर्थ की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥४२॥

[व्यपदेशः] संस्थाओं का व्यपदेश = कथन [च] सी [तुल्यवत्] तुल्य की तरह है।

प्रकरण में इनका कथन ऐसा किया गया है, जैसे सबका समान हो—‘यदि अग्निष्टोमो जुहोति’ यदि अग्निष्टोम है, तो होम करता है। ‘यदि उक्थ्यः परिच्छ-मनक्ति’ यदि उक्थ्य है, तो उसके शेष वचे धी से परिच्छ को चुपड़ता है। ‘यदि अतिरात्र एतदेव यजुर्जपन् हविर्धानं प्रतिपद्यते’ यदि अतिरात्र है, तो इसी—यमग्ने पूत्सु मत्यंम्—यजु को जपता हुआ हविर्धान (सोम-शक्ट) को प्राप्त होता है। इस प्रकार सब संस्थाओं का समानरूप से कथन किये जाने के कारण सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम के ही दीक्षणीयेष्ट आदि धर्म जाते हैं, अकेले अग्निष्टोम संस्था के नहीं। इसके अतिरिक्त अन्य भी जो सामान्य विधान हैं, वे सब

संस्थावाले ज्योतिष्टोम के समझते चाहिए ।

यह भी व्यान देने योग्य है—यदि ये धर्म केवल अग्निष्टोम संस्था के अभिप्राय से कहे गये होते, तो 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' वाक्य में 'अग्निष्टोम' पद के पाठ की आवश्यकता न होती, केवल 'जुहोति' प्रचरणी शेष धृत से होम करता है, इतने कथन से ही अग्निष्टोम के साथ इस धर्म का सम्बन्ध हो जाता । यहाँ 'अग्निष्टोम' पद का पाठ निरर्थक न होता हुआ यह ज्ञापन करता है कि ये धर्म सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम के हैं ।

प्रचरणी जुहू के सदूश काष्ठनिर्मित एक पात्र होता है । उसमें धृत भरकर होम किया जाता है । तब 'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' का अर्थ होता है—यदि अग्निष्टोम संस्था है तो प्रचरणी में विद्यमान होमशेष धृत से 'यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्' मन्त्र का उच्चारण कर होम करता है । इसी प्रकार यथात्रम् अग्ने वाक्यों का अर्थ है—यदि उक्थ्य संस्था है, तो प्रचरणी में विद्यमान होमशेष धृत से—'यमग्ने पृत्सु मर्त्यम्' मन्त्र पाठ कर—परिधि में लेप करता है । यदि अतिरात्र संस्था है, तो उक्त मन्त्र को जपता हुआ हविर्धनि के समीप पहुँचता है । इस प्रकार सभी संस्थाओं का समानरूप में कथन किया गया है । इससे स्पष्ट होता है, दीक्षणीयेष्ठि आदि धर्म सब संस्थावाले ज्योतिष्टोम से सम्बद्ध जानने चाहिए ॥४२॥

आचार्य सूक्तकार ने पूर्वपञ्च का समाधान किया—

विकारास्तु कामसंयोगे सति नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपञ्च की निवृत्ति का घोतक है, अर्थात् संस्थाएँ समान विधानवाली नहीं हैं । [विकारा:] उक्थ्य आदि संस्थायें अग्निष्टोम का विकार हैं, विकृतिभूत हैं । [कामसंयोगे] कामना का संयोग [सति]होने पर उक्थ्य आदि संस्थाएँ मुनी जाती हैं । [समत्वात्] समान होने के कारण दीक्षणीय आदि धर्म [नित्यस्य]नित्य ज्योतिष्टोम—अग्निष्टोम के हैं । दीक्षणीयेष्ठि आदि धर्म नित्य की तरह पठित हैं; कामनासंयोग से विकृतिभूत अनित्य उक्थ्य आदि संस्थाओं के साथ नित्य धर्मों का सम्बन्ध विरुद्ध होगा । इसलिए नित्य की तरह पठित धर्म नित्य ज्योतिष्टोम = अग्निष्टोम संस्था से जानने चाहिए ।

ज्योतिष्टोम याग सात भागों में अनुष्ठित होकर पूरा होता है । ये सात भाग 'सात संस्था' कहलाते हैं । पहला भाग अथवा संस्था 'अग्निष्टोम' है । यह नित्य-कर्म है । नित्य कर्म वह कहा जाता है, जो काम्य अर्थात् कामनामूलक न हो । तात्पर्य है—किसी कामनाविवेष से प्रेरित होकर न किया जाय । ज्योतिष्टोम के उक्थ्य आदि मुख्य भाग अथवा संस्था काम्यकर्म हैं, विशेष कामना से प्रेरित होकर किये जाते हैं । उनके विषय में शास्त्रीय वचन है—'पशुकाम उक्थ्यं गृहीयात्' पशु की कामनावाला उक्थ्य को वजन के लिए स्वीकार करे । 'पोडशिना वीर्यं कामः स्तुवीतः'

वीर्यं की कामनावाला घोड़शी संस्था से स्तबन = यजन करे । 'अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्' प्रजा = सन्तान की कामनावाले को अतिरात्र संस्था से यजन कराये । ये सब याग काम्य हैं । किसी कामनाविशेष से किये गये याग नैमित्तिक कहाते हैं । अग्निष्टोम के विषय में वचन है—'यदि अग्निष्टोमो जुहोति' यदि अग्निष्टोम है, तो होम करता है । वह कामना प्रेरित नहीं है । नित्य होम का विधान है । नित्य कर्म प्रकृति और नैमित्तिक कर्म उसके (नित्य कर्म के) विकृति माने जाते हैं, यह एक शास्त्रीय व्यवस्था है । प्रकृतियाग मुख्य और विकृतियाग उसके अङ्ग होते हैं ।

दीक्षणीय इष्ट आदि धर्म मुख्य याग अग्निष्टोम के अभिप्राय से कहे गये हैं । विकृतियागों में धर्म का विधान अपेक्षित नहीं है । अपेक्षा होने पर अतिदेश-वाक्य से वह विकृति में प्राप्त हो जाता है । यदि विकृति में दीक्षणीयेष्ट आदि धर्मों का विधान माना जाता है, तो जिस विकृतियाग में वह विहित है, उसी में उसका प्रयोग हो सकेगा; अन्यत्र विकृतियाग में नहीं । फिर अन्य विकृतियाग में प्रयोग के लिए वहाँ भी धर्मों का विधान मानना होगा । यह द्विरुद्ध-दोष होगा जो अभीष्ट नहीं । प्रकृति-धर्म का निवेश विकृति में होता है; एक विकृति-धर्म का निवेश अन्य विकृतियाग में नहीं हो सकता, क्योंकि वे परस्पर भिन्न कामनाओं से प्रवृत्त होते हैं । पशुकाम में प्रजाकाम का, प्रजाकाम में पशुकाम का निवेश सम्भव नहीं । इसलिए दीक्षणीयेष्ट आदि धर्मों का विधान अग्निष्टोम को लक्ष्य कर किया गया है, नित्य याग अग्निष्टोम के ये नित्य धर्म हैं ।

आशंका की जा सकती है—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'—'स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से याग करे' वचन के अनुसार ज्योतिष्टोम भी काम्य-कर्म है । ज्योतिष्टोम की संस्था अग्निष्टोम है; तब वह भी काम्यकर्म क्यों न माना जाय? काम्य होने से वह भी नैमित्तिक याग होगा, नित्य न रहेगा । वस्तुतः यहाँ ऐसा समझना चाहिए—'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्' वचन ज्योतिष्टोम की उक्त्य आदि काम्य संस्थाओं के अभिप्राय से कहा गया है । उन काम्य यागों में पशुसम्पदा, वीर्य = आधिभौतिक शक्ति और प्रजा = सन्तान की कामना अभिव्यक्त की गई है । उन यागों के अनुष्ठान से तीनों कामनाओं की पूर्ति व सम्पन्नता होने पर स्वर्ग की प्राप्ति पूर्णरूप में हो जाती है । सम्पत्ति, यौवन, सन्तान, यहीं तो स्वर्ग का स्वरूप है ।

ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान प्रारम्भ किये जाने पर सर्वप्रथम दीक्षणीयेष्ट, दीक्षा, प्राणीयेष्ट आदि का अनुष्ठान कर ज्योतिष्टोम की मुख्य प्रथम संस्था अग्निष्टोम का अनुष्ठान किया जाता है । ज्योतिष्टोम का यह प्रथम भाग सम्पन्न हो जाता है । इसमें किसी कामना का अस्तित्व नहीं है । जब काम्य उक्त्य आदि भागों में से किसी का अनुष्ठान अभिप्रेत होता है, तब प्रत्येक कामनामूलक भाग

के अनुष्ठान से पहले अग्निष्टोम होग का अनुष्ठान आवश्यक होता है। दीक्षणी-येष्टि आदि धर्म उसके साथ अनिवार्य रूप से संलग्न रहते हैं। ऐसी अवस्था में न तो दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का उक्थ आदि संस्थाओं में विधान अपेक्षित है, और न नित्य अग्निष्टोम को काम्यकर्म कहा जा सकता है। उसकी संस्था अपने रूप में नित्य है, पूर्ण है, कामनारहित है। प्रत्येक काम्य संस्था के प्रारम्भ में उसका अनुष्ठान आवश्यक होने से वह नित्य है। स्वतन्त्र रूप में उसका अनुष्ठान पूर्ण है। किसी कामना से प्रेरित न होने के कारण भी वह नित्य है। फलतः दीक्षणीयेष्टि आदि धर्म अग्निष्टोम-ज्योतिष्टोम के हैं। उक्थ आदि संस्थाएं अग्निष्टोम के समान विधानवाली नहीं हैं॥४३॥

सूत्र ४२ में कहे अर्थ का सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनात् समुच्चयः ॥४४॥

[वचनात्] वचन-सामर्थ्य से [तु]ही [समुच्चयः] प्रकृति-विकृति उभयविध कर्मों का एकनाय समानरूप में कथन किया गया है।

'यदि अग्निष्टोमः' इत्यादि वचनों द्वारा जो प्रकृति-विकृति उभयविध कर्मों का समान रीति पर सह-निर्देश किया गया है, वह वचन-सामर्थ्य से ही समझना चाहिए। तात्पर्य है—वह साधारण कथनमात्र है; तब संस्थावाले ज्योतिष्टोम के लिए दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का विद्यायक या निश्चायक नहीं है। प्रकृतिकर्म और विकृतिकर्मों का एक रीति पर कथन उनके प्रकृति-विकृतिभाव में किसी उलटफेर को पैदा नहीं करता। इसलिए ऐसे कथन में न कोई असामज्ज्ञस्य है, और न इससे दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का सब संस्थाओं में समान विधान सिद्ध होता है।

अग्निष्टोम और उक्थ यदि संस्थाओं में परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव न माने जाने के लिए एक युक्ति इस प्रकार प्रस्तुत की जाती है, वचन हैं—'आग्नेयमज-मणिष्टोम आलभेत, ऐन्द्रायनं द्वितीयमुख्ये, ऐन्द्रं वृष्णितृतीयं पोदशिनि'-अग्नि देवतावाले अज का अग्निष्टोम में आलभन करे, इन्द्र-अग्नि देवतावाले द्वितीय का उक्थ में, इन्द्र देवतावाले तृतीय मेढ़े का पोड़शी में। आशंकावादी का तात्पर्य है—द्वितीय-तृतीय पदों का प्रयोग समान विधान में घट सकता है। एक प्रकृति है, अन्य विकृति है, तो इनमें द्वितीय-तृतीय पद का प्रयोग उपर्यन्त न होगा। जहाँ द्वितीय-तृतीय पदों का प्रयोग किया जा रहा है, वे नमानजातीय होने चाहिए। प्रकृति-विकारभाव मानने पर उनका साजात्य नहीं रहता। इसलिए द्वितीय-तृतीय पद-प्रयोग के बल पर यह मानना चाहिए कि अग्निष्टोम और उक्थ आदि संस्थाओं में परस्पर प्रकृति-विकारभाव नहीं है। तब दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों को केवल अग्निष्टोम के लिए वताना युक्त न होगा।

वस्तुतः यहाँ समान विधान या साजात्य, प्रकृति अथवा विकार पर आधारित नहीं है; वह ज्योतिष्टोम कर्म पर आधारित है। सब संस्थायें ज्योतिष्टोम कर्मरूप हैं; इसी साजात्य पर द्वितीय-तृतीय पदों का प्रयोग उपयन्न हो जाता है। इससे संस्थाओं के परस्पर प्रकृति-विकारभाव में कोई व्यतिक्रम नहीं आता। इसलिए दीक्षणीयेष्टि आदि धर्मों का सम्बन्ध केवल अग्निष्टोम के साथ मानने में कोई बाधा नहीं है॥४४॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अत्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥४५॥

[पूर्वलिङ्गानाम्] पूर्वोक्त लिङ्गों के [प्रतिषेधात्] प्रतिषेध से [च] भी संस्थाओं में प्रकृति-विकारभाव जात होता है।

जब प्रयग अग्निष्टोम का अनुष्ठान होता है, तब सबसे पूर्व दीक्षणीय इष्टि, दीक्षा, प्रायणीय इष्टि आदि का अनुष्ठान होने पर अग्निष्टोम का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है, तथा प्रचरणी पात्र में विद्यमान शेष धूत से होम किया जाता है। उसके अनन्तर उक्त्य का अनुष्ठान प्रारम्भ होता है, तो परिधि को शेष धूत से चुपड़ा जाता है; होम नहीं किया जाता। समान विधान माने जाने पर होम के जभाव का दर्शन न होता। उक्त्य में होम का अभाव उक्त्य को अग्निष्टोम का विकार सिद्ध करता है। इससे भी ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में प्रकृति-विकारभाव जाना जाता है॥४५॥

यदि उक्त्य आदि अग्निष्टोम के विकार हैं, तो इनका पृथक् कथन क्यों किया जाता है?

सूत्रकार ने बताया—

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४६॥

[गुणविशेषात्] प्रत्येक संस्था के अन्त में बोले जानेवाले स्तोत्ररूप गुण के भेद से [एकस्य] एक ज्योतिष्टोम = अग्निष्टोम का अनेक नामों से [व्यपदेशः] व्यपदेश = कथन दुआ है।

उक्त्य आदि संस्थायें काम्य हैं। पशुकामना से इसका अनुष्ठान किया जाता है। इसका अनुष्ठान प्रारम्भ विष्णे जाने से पूर्व दीक्षणीयेष्टि आदि के सहित अग्निष्टोम का अनुष्ठान आवश्यक होता है। विभिन्न कामनाओं से की जानेवाली पोड़शी एवं अतिरात्र संस्था के अनुष्ठान से पूर्व भी सधर्म अग्निष्टोम का अनुष्ठान आवश्यक है, अपरिहार्य है। इससे स्पष्ट है, उक्त्य आदि संस्थायें अग्निष्टोम

का रूप हैं, अङ्ग हैं; उससे भिन्न नहीं। उसे छोड़कर इनका अनुष्ठान नहीं हो सकता। कामना और अन्य स्तोत्ररूप गुणविशेष के कारण इनका भिन्न नामों से कथन किया गया है ॥४६॥ (इति दीक्षणीयादिवर्गाणामग्निष्टोमाङ्गताधिकरणम्—१६) ।

इति जेमिनीयमीमांसासूत्राणां उदयबीरक्षास्त्रिविरचिते
विद्योदयभाष्ये तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये सप्तमः पादः

(वहिरादीनां दर्शपूर्णमासयोरञ्जप्रधानसाधारणताधिकरणम्—१)

दर्श-पूर्णमास याग के प्रसंग में वर्हि (= कुशा), वेदि तथा उनके धर्म पठित हैं । उनमें सन्देह है—क्या वर्हि और वेदि आदि के धर्म केवल प्रधान याग के हैं ? अथवा प्रधान और अञ्ज सभी के हैं ? प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित होने से ये धर्म प्रधान कर्म के होने चाहिए । इसी अर्थ को सूत्रकार ने पूर्वपक्ष-रूप में सूचित किया—

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥१॥

[प्रकरणविशेषात्] किसी अञ्जभूत कर्म के विशेष प्रकरण से [असंयुक्तम्] असंयुक्त = असम्बद्ध द्रव्य अथवा द्रव्य-धर्म [प्रधानस्य] प्रधान के हैं । तात्पर्य है—वे प्रधान कर्म के लिए कहे गये हैं :

किसी अञ्जरूप कर्म के विशेष प्रकरण में न पढ़े हुए होने के कारण तथा दर्श-पूर्णमास प्रधान कर्म के साधारण प्रकरण में पढ़े हुए होने के कारण वर्हि आदि द्रव्य तथा उनके लवन (काटना) आदि धर्म प्रधानयाग के लिए तथा प्रधानयाग की हृवियों के लिए समझने चाहिए ॥१॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥२॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का दोतक है । [सर्वेषाम्] सब अञ्ज

१. रामेश्वरसूरि विरचित सुवेधिनी-वृत्ति में सूत्र का पाठ है—‘सर्वेषां वा शेषत्वं स्यात् तत्प्रयुक्तत्वात्’ इस पाठ में ‘तत्’ सर्वनाम पद वचन अथवा वाक्य अर्थ में प्रयुक्त है । तात्पर्य है—शेषत्व के वाक्य द्वारा प्रयुक्त होने के कारण । ऊपर के पाठ में ‘तत्’ पद प्रकरण अर्थ में प्रयुक्त है । तात्पर्य है—प्रकरण द्वारा शेषत्व के प्रयुक्त न होने के कारण । दोनों पाठों में सूत्रार्थ के भाव में कोई अन्तर नहीं है ।

और प्रधान कर्मों के धर्म हैं, [शेषत्वस्य] शेषत्व के [अतत्प्रयुक्तत्वात्] प्रकरण-विशेष से प्रयुक्त न होने के कारण।

'शेषत्व' का अर्थ है—शेष का होना। अज्ञ अथवा धर्म को शेष कहा जाता है। जो जिसका उपकारक होता है, वह उसका शेष—अज्ञ अथवा धर्म कहा जाता है। यद्यपि ये प्रधान कर्म के सामान्य प्रकरण में पढ़े हैं, पर प्रकरण से इनका शेष होना अथवा अज्ञ होना प्रयुक्त—प्रेरित नहीं है, प्रत्युत वाक्य से प्रेरित है। वे वाक्य हैं—'बहिष्मि हवीषि आसादयति'—बहिः (=कुशा) पर हवियों को रखता है। इस वाक्य में बहिः उसका प्रयोजन बताया। यज्ञवेदि के सभीए वर्हि को चिछाकर उसपर हवि-द्रव्य रखते जाते हैं। वर्हि के धर्म बताये—'बहिर्लुनाति सम्भरति सन्त्वृति प्रोक्षति'—बहिः को काटता है, इकट्ठी करता है, बांधता है, जल से घोता है।

इसी प्रकार वेदि के विषय में वाक्य है—'वेदां हवीषि आसादयति' वेदि के सभीप हवियों को रखता है। वेदि के धर्म बताये—'वेदि सनति सम्मार्चित परिगृह्णति प्रोक्षति' वेदि को खोदता है, सन्तुलित कर शुद्धरूप में लाता है; तात्पर्य है—वेदि के निर्माण में जो कहीं ऊँचा-नीचा या टेढ़ा-तिरछा हो गया है, उसे सम्भाव में लाता है। स्फ्य के द्वारा रेखांकित कर वेदि को स्पष्ट करता है, जल से प्रोक्षण करता है। इन वाक्यों से जाना जाता है, ये धर्म अज्ञ और प्रधान सभी कर्मों के उपकारक हैं। आहवनीय अभिं में आहुति दिये जानेवाले प्रधान हवि-द्रव्यों की जानकारी प्रकरण से होती है। 'बहिष्मि हवीषि आसादयति'—बहिः पर सभी हविद्रव्यों का स्थापन करता है, यह वाक्य द्वारा जाना जाता है। लवन (काटना) आदि धर्म वर्हि के उपकारक हैं। हविद्रव्यों का बहिः पर स्थापन हवि-द्रव्यों का उपकारक है। वेदि के खनन (खोदना) आदि धर्म वेदि के उपकारक हैं। ये सब गिलकर सामूहिक रूप से प्रधान याग के उपकारक हैं। इनके द्वारा याग निष्पन्न होता है, इसलिए ये द्रव्य-धर्म अज्ञ और प्रधान सभी के समझने चाहिए॥२॥

शिष्य आशंका प्रस्तुत करता है—यदि दर्श-पूर्णमास का प्रकरण होने पर भी प्रधान कर्म की उपेक्षा कर अज्ञों के ये धर्म हो सकते हैं, तो दर्श-पूर्णमास प्रकरण की सन्निधि में पठित 'पिण्डपितृयज्ञ' का भी धर्म इन्हें क्यों न माना जाय?

सूत्रकार ने आशंका को पूर्वप्रक्षरूप में सूत्रित किया—

आरादपीति चेत् ॥३॥

[आरात्] दूर पठित=दर्श-पूर्णमास से बाहर—पर सान्निध्य में पठित

पिण्डपितृयज्ञ में [अपि] भी वर्हि आदि के धर्म हों, [इति चेत्] ऐसा कहो, तो—
(अगले सूत्र से सम्बन्ध है) ।

पिण्डपितृयज्ञ काटी हुई कुशा पर होता है, वहाँ भी वर्हि से प्रयोजन है। वर्हि भी ये धर्म करने चाहिए। प्रधानयाग-प्रकरण की उपेक्षा कर जैसे अङ्गों का धर्म इन्हें माना गया, ऐसे ही दर्श-पूर्णमास प्रकरण से बाहर सन्निधि में पठित पिण्ड-पितृयज्ञ में प्रयुक्त वर्हि को भी इन धर्मों से युक्त मानना चाहिए ॥३॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥

[न] पिण्डपितृयज्ञ का वर्हि दर्श-पूर्णमासगत वर्हि के धर्मों से युक्त नहीं होता। [तद्वाक्यम्] वह 'वर्हिषि हवीषि आसाद्यति' वाक्य [हि] निश्चयपूर्वक दर्श-पूर्णमास-विषयक है, [तदर्थत्वात्] दर्श-पूर्णमास के लिए होने के कारण ।

वे वर्हिधर्म दर्श-पूर्णमास प्रकरण में पठित हैं, इसलिए निश्चयपूर्वक वे दर्श-पूर्णमास के लिए हैं। पिण्डपितृयज्ञगत वर्हि उन धर्मों से युक्त नहीं होता, जिन अङ्गों के ये धर्म बताये गये हैं; वे दर्श-पूर्णमास से सम्बद्ध हैं, उन्हीं के अङ्ग हैं। उनका सहारा लेकर पिण्डपितृयज्ञगत वर्हि में इन धर्मों का निवेश नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह वर्हि उत्तम प्रसंग से सबैया वर्हिर्भूत है। ये धर्म दर्श-पूर्णमास व उनके अङ्गों के उपकारक हैं, अतः उन्हीं के लिए हैं। उनकी प्राप्ति अन्यत्र पिण्ड-पितृयज्ञ के वर्हि में सम्भव नहीं ॥४॥

आशंका का समाधान कर चालू प्रसंग का उपसंहार करते हुए सूत्रकार ने अङ्ग और प्रधान दोनों के धर्म होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनात् ॥५॥

[लिङ्गदर्शनात्] इस विषय में सन्तर्क हेतु के देखे जाने से [च] भी वर्हि आदि के धर्म अङ्ग और प्रधान दोनों के लिए जाने जाते हैं।

इस विषय में वाक्य है—'स वै श्रुवामेवाग्रेऽभिधारयति, ततः प्रथमौ आज्य-भागी यक्षमन् भवति'। यह प्रयाजशेष धृत से हवियों के आधारण-प्रसंग में कहा है—वह पहले श्रुवा का आधारण करता है, उससे-प्रथम आज्यभागों का यजन करनेवाला—होता है। यह वाक्य प्रकट करता है कि अभिधारण आज्यभाग की सम्पन्नता के लिए है। तात्पर्य है—श्रुवा का अभिधारण नहीं किया जाता, तो प्रथम आज्यभाग सम्पन्न न होगे। ऐसी अवस्था में यदि वर्हि और वेदि के धर्मों के समान अभिधारण-धर्म अङ्ग (आज्यभाग) और प्रधान (श्रुवा) दोनों के लिए माना जाता है, तभी उसका आज्यभाग की हवि के लिए अभिधारण का कथन उपपन्न होता है; क्योंकि आज्यभाग अङ्गकर्म है ॥५॥ (इति वर्हिरादीनां दर्श-

पौर्णमासयोरज्ञप्रधानसाधारणताऽधिकरणम्—१) ।

(स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताऽधिकरणम्—२)

ज्योतिष्टोम में यजमान के केश-इमशु-वपन, पयोन्त्र और तप पठित हैं। इनमें सन्देह है—क्या ये केश-इमशु-वपन आदि अज्ञकर्म और प्रधानकर्म दोनों के के लिए हैं? अथवा केवल प्रधानकर्म के लिए हैं? गत अधिकरण में किये गये निर्णय के अनुसार दोनों के लिए प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

फलसंयोगात् स्वामिसंयुक्तं प्रधानस्य ॥६॥

[स्वामिसंयुक्तम्] स्वामी=यजमान से सम्बद्ध केश-इमशु-वपन आदि संस्कार [हु] तो [प्रधानस्य] प्रधान कर्म की सिद्धि के लिए हैं, [फलसंयोगात्] प्रधान कर्म याग से होनेवाले फल का सम्बन्ध स्वामी से होने के कारण ।

याग की सिद्धि से जो अदृष्ट फल प्राप्त होता है, उसका भोक्ता यजमान है। याग की सिद्धि के लिए आवश्यक होता है, वह सर्वज्ञपूर्ण हो। यागसिद्धि के अन्य अवैक्षित अज्ञों के समान यजमान का यह संस्कार भी आवश्यक है कि वह याग के अवसर पर केश व दाढ़ी-मूँछ मुँडाये, केवल दूध-आहार ले तथा बह्यचर्यपूर्वक तपोमयरूप में वह समय व्यतीत करे। यदि यजमान ऐसा न करे, तो याग विगुण हो जायगा; सर्वज्ञपूर्ण न होगा, और उससे अदृष्ट फल की उत्पत्ति न होगी, जिसका भोक्ता यजमान है। व्योक्ति यज्ञ में होनेवाले फल का सम्बन्ध यजमान से होता है, इसलिए यजमान के केश-इमशु-वपन आदि संस्कार याग की सिद्धि में सहायक होते हैं, तब प्रधान याग का उन्हें अज्ञ मानने में कोई बावा नहीं रहती। फलतः केश-इमशु-वपन आदि यजमान के संस्कार-कर्म याग के उपकारक हैं, अतः प्रधान (=याग) के अज्ञ हैं, उसी के लिए हैं; अज्ञ और प्रधान दोनों के लिए नहीं ॥६॥ (इति स्वामिसंस्काराणां प्रधानार्थताऽधिकरणम्—२) ।

(सौमिकवेदादीनामज्ञप्रधानोभयाज्ञताऽधिकरणम्—३)

ज्योतिष्टोम के प्रसंग में सौमिक वेदि का परिमाण पठित है—‘षट्त्रिवात् प्रश्नमा प्राची, चतुर्विशतिरय्णेण, त्रिशज्जघ्नेन इयति शत्यामहे’ ३६ प्रक्रम पूर्व-पञ्चम, पूर्व की ओर के अश्रमाग की चौड़ाई २४ प्रक्रम, पञ्चम ओर की चौड़ाई ३० प्रक्रम होती है। इतने परिमाण की वेदि में याग कर सकेंगे।

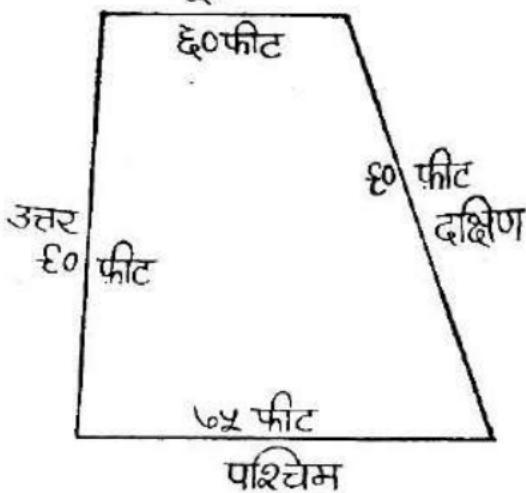
सोमयाग के अनुष्ठान के लिए उक्त परिमाण में महावेदि का निर्माण किया

१. द्रष्टव्य—तैतिरीय संहिता [६।२।४]। मैत्रायणी संहिता [३।१।४]।

काठक संहिता [२।५।४]। काठकपिष्ठल संहिता [३।१।१]।

जाता है। 'प्रक्रम' पद एक डग या क्रम के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक प्रक्रम का परिमाण ३० इन्च अथवा ढाई फीट गाना जाता है। इसके अनुसार वेदि की पूर्व-पञ्चम लम्बाई ६० फीट, पूर्व के अग्रभाग की चौड़ाई उत्तर-दक्षिण ६० फीट, पञ्चम के अग्रभाग की चौड़ाई दक्षिण-उत्तर ७५ फीट होगी। सोम-याग-सम्बन्धी सब कार्य इस वेदि पर किये जाते हैं।

१ इन्च = १५ फीट सौमिक-महावेदि पूर्व



यहाँ सन्देह है—क्या यह वेदि अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के लिए है? अथवा केवल प्रधान कर्मों के लिए? गत अधिकरण (२) में किये गये निर्णय के अनुसार वेदि को केवल प्रधान कर्मों के लिए मानना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूचित किया—

चिकीष्या च संयोगात् ॥७॥

[चिकीष्या] करने की इच्छा द्वारा [च] सम्भवतः [संयोगात्] याग के साथ संयोग होने से सौमिकी महावेदि प्रधान कर्मों के लिए है।

उत्तर वाक्य में 'इयति शक्यामहे'—इस परिमाण के वेदिस्थान में याग कर सकेंगे—पदों से याग करने की इच्छा अभिव्यक्त होती है। इच्छा-विषय प्रधान-

कर्म याग है। इसलिए वेदि को प्रधान कर्म के लिए मानना युक्त है।

आशंका की जा सकती है—यदि अङ्ग चिकीषित नहीं है, तो वे क्यों किये जाते हैं? वस्तुतः यहाँ समझना यह है कि वे अङ्ग, अङ्ग के रूप में इच्छा के विषय नहीं हैं। याग में अन्तर्भूत भले रहो, और वे चिकीषित न होते हुए, किये भी इसीलिए जाते हैं। इसलिए सीधा इच्छा-विषय याग है, उसी के लिए वेदि है। अतः केवल प्रधान के लिए वेदि का होना युक्त कथन है ॥७॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात् सर्वचिकीर्षा स्यात् ॥८॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है—वेदि केवल प्रधान कर्म के लिए है यह ठीक नहीं। [तद्युक्ते] अङ्गों से युक्त में [फलश्रुतिः] फल सुना जाता है, [तस्मात्] इसलिए [सर्वचिकीर्षा] अङ्ग और प्रधान सभी कर्म चिकीषित [स्यात्] होता है।

जो यह कहा है—प्रधान चिकीषित नहीं है, अङ्ग चिकीषित नहीं है, इस कारण वेदि प्रधान के लिए है, यह कथन युक्त नहीं है। सोचना चाहिए, प्रधान है क्या? अङ्गों की यथायथ सम्पूर्णता ही तो प्रधान है। यदि वेदि अङ्गों के लिए नहीं है, अङ्ग वेदि पर नहीं किये जाएंगे, तो प्रधान याग वेदि पर कैसे सम्पन्न होगा? शास्त्र में प्रधान याग से फलप्राप्ति का जो कथन किया है, वह सर्वाङ्गपूर्ण याग के अनुष्ठान से ही किया है। अङ्गहीन याग, याग ही नहीं रहता; विगुण ही जाता है। वह फल कहाँ देगा? इस कारण वेदि को अङ्ग और प्रधान सब कर्मों के लिए मानना सर्वथा युक्त है ॥८॥ (इति सौमिकवेदादीनामङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—३)।

(अभिमर्शनस्याङ्गप्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—४)

दर्श-पूर्णमास में पाठ है—‘चतुर्होत्रा पूर्णमासीमभिमूयेत्, पञ्चहोत्रा अमावस्याम्’ चतुर्होतृ नामवाले मन्त्र से पौर्णमास याग से सम्बद्ध हृवि का स्पर्श करे, तथा पञ्चहोतृ नामवाले मन्त्र से अमावास्या याग से सम्बद्ध हृवि का स्पर्श करे।

१. तुलना करें—‘चतुर्होत्रा पौर्णमास्यां हृवीष्यासन्नाम्यभिमूयेत् प्रजाकामः, पञ्चहोत्रा अमावास्यां स्वर्गकामः’ आप०थी० ४। ८। ७॥। चतुर्होत्रा मन्त्र—पृथिवी होता। द्वौरध्वर्युः, स्वदोऽग्नीत्। बृहस्पतिरप्यवस्ता। तै०आ० ३। २। १॥ उपवत्ता ब्रह्मोत्ति सायणः ॥ पञ्चहोतृ मन्त्र—अग्निर्होता। अदिवनादध्वर्युः। स्नाटाग्नीत्। मित्र उपवत्ता। तै०आ० ३। ३। १॥ अत्र अदिवनी द्वौ। अध्वर्यु अपि द्वौ—अध्वर्युः प्रतिप्रस्त्रयाता च। द्रष्टव्यं सायणमाष्यम् । (मु० मी०)

इनमें सम्बद्ध है—क्या यह अभिमर्शन = स्पर्श अङ्गहवि और प्रधानहवि दोनों के लिए है ? अथवा केवल प्रधानहवि के लिए है ? प्रधान याग का नाम होने से यहाँ अभिमर्शन प्रधान याग के हवि होना चाहिए । सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्ष-रूप में सूचित किया—

तथाभिधानेन ॥६॥

[तथा] द्वितीय अधिकरण में—केश शमशु-वपन आदि संस्कार प्रधान के लिए—किये गये निर्णय के अनुसार [अभिधानेन] पौर्णमासी अमावास्या प्रधान याग के नाम निर्देश के कारण चतुर्हौंतृ-पञ्चहौतृ मन्त्र से स्पर्शं प्रधान याग की हवि के लिए है, ऐसा जाना जाता है ।

दर्श-पूर्णमास के उबत पाठ में—पौर्णमासी और अमावास्या नाम का स्पष्ट निर्देश है । इस कारण अभिमर्शन = स्पर्शं प्रधान याग से सम्बद्ध हवि का विधान किया गया है, यह जात होता है ॥६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

गुणाभिधानात् सर्वार्थमभिधानम् ॥१०॥

[गुणाभिधानात्] अभिमर्शनरूप गुण के अभिधान—कथन से [सर्वार्थम्] अङ्ग और प्रधान याग की सब हवियों के लिए [अभिधानम्] पूर्णमासी और अमावास्या का कथन है ।

अभिमर्शन हवियों का गुण अर्थात् संस्कारविशेष है । वह अङ्ग और प्रधान सभी हवियों का होना अभीष्ट है । वाक्य में—‘पौर्णमासीम्’ और ‘अमावास्याम्’ द्वितीयान्त नाम-निर्देश इसी कारण हुआ है कि सीधा (साक्षात्) अथवा परम्परा से इन इष्टियों के साथ जो भी हवि सम्बद्ध हैं उन सबका अभिमर्शन होना चाहिए, जाहे वे अङ्गभूत कर्म के लिए हों, या प्रधानकर्म के लिए । यह हवियों का उपकार अथवा संस्कार करना है । वह सब हवियों के लिए समान है । इसलिए अङ्ग और प्रधान सब हवियों का अभिमर्शन करना चाहिए ॥१०॥ (इति अभिमर्शनस्यात्-प्रधानोभयाङ्गताधिकरणम्—४) ।

(दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम्—५)

ज्योतिष्टोम प्रसंग में तीन दीक्षा कही हैं—तिस्रो दीक्षा:—वाससा दीक्षयति, दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति' तीन दीक्षा हैं—वस्त्र से दीक्षित करता है, दण्ड से दीक्षित करता है, मेखला से दीक्षित करता है । वस्त्र उढ़ाकर, खदिर व पलाश का दण्ड हाथ में देकर, मेखला कमर में बाँधकर यजमान को दीक्षा दी जाती है—ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठानार्थं अधिकृत किया जाता है । इसी प्रकार

दक्षिणा कही है—‘तस्य’ द्वादशशतं दक्षिणा।’ उस ज्योतिष्टोम की ११२ गाय दक्षिणा है। यह दक्षिणा याग-अनुष्ठान करानेवाले याजिकों को दी जाती है। इनमें सन्देह है—क्या ये दीक्षा और दक्षिणा प्रत्येक अंग-कर्म और प्रधान-कर्म सदके साथ सम्बद्ध हैं? अथवा केवल प्रधान कर्म के साथ? प्रतीत होता है, याजिक क्योंकि अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों का अनुष्ठान करते हैं, इसलिए दीक्षा और दक्षिणा सभी कर्मों के लिए होने चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सन्देह का समाधान करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

दीक्षादक्षिणं तु वचनात् प्रधानस्य ॥११॥

[दीक्षादक्षिणम्^१] दीक्षा और दक्षिणा [तु] तो [वचनात्] वचन-सामर्थ्य से [प्रधानस्य] प्रधान कर्म के हैं।

दीक्षा और दक्षिणा वचन-सामर्थ्य से प्रधानकर्म के हैं क्योंकि वचन है—‘दीक्षा: सोमस्य, दक्षिणा: सोमस्य’ दीक्षा और दक्षिणा सोम की हैं। सोम पद का अयोग प्रधान कर्म के लिए प्रयुक्त होता है। अङ्ग उसीमें अन्तर्भूत हैं। स्वतन्त्ररूप से अङ्ग-कर्म के लिए इस पद का अयोग नहीं होता। अपने बास्तविक अर्थ को अभिव्यक्त करने में पद किसी दबाव को सहन नहीं करता। इसलिए दीक्षा व दक्षिणा प्रधान सोमयाग से सम्बद्ध हैं ॥११॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

निवृत्तिदर्शनाच्च ॥१२॥

[निवृत्तिदर्शनात्] अङ्गकर्म में दीक्षा का अभाव देख जाने से [च] भी दीक्षा और दक्षिणा प्रधानकर्म-सम्बन्धी जाननी चाहिए।

अङ्गकर्म में दीक्षा के अभाव का बोधक वचन है—‘अद्वर्यो यत्पशुना^२ अयाक्षी:

१. द्रष्टव्य—ताण्डच० त्रा० १६।१।१॥ आप० थौ० १३।५।१॥ ब्राह्मण में ‘द्रादक्षं शतम्’ पाठ है। इसका अर्थ १२०० सौ है। यह निश्चय नहीं कि इनमें से कौन-सा पाठ युक्त है।

२. ‘दीक्षा च दक्षिणा च इति दीक्षादक्षिणम्’ समाहार द्वन्द्व समाप्त में पद नपुंसक लिङ्ग व एकवचनान्त प्रयुक्त होता है।

३. इसके लिए तुलना करें—शतपथ ब्राह्मण, १।१।७।२।६॥ उस प्रसंग में छह होता गिनाये हैं—अद्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, होता, ब्रह्मा, मैत्रावरुण, अग्नीध। जिस मन्त्र को बोलकर आहुतियाँ दी जाती हैं, वह है—

शौष्ठृष्ठमन्तरिक्षात्माङ्गर्यज्ञं पृथिवीं शरीरे वाचस्पतेऽच्छिद्रया वाचाऽच्छिद्रया जुह्वा दिवि देवावृद्धं होत्रामैरयत् स्वाहा ।

अथ कास्य दीक्षा ? इति । यत् षड्होतां जुहोति साऽस्य दीक्षा'—हे अधर्वर्यु ! जो पशु से यजन कराया, इसकी क्या दीक्षा है ? जो छह होताओं को होम पर लगाया है वह इसकी दीक्षा है ।

यह प्रसंग 'निरूढ पशुवन्ध' याग का है । इस याग का प्रकृतियाग अग्नीषोभीय याग है, जो छहन्दिवसीय ज्योतिष्टोम के चौथे दिन सम्पन्न होता है । 'पशु' पद प्राणी के अतिरिक्त अनेकत्र अन्न के लिए प्रयुक्त हुआ है । अग्नीषोभीय में हविद्रव्य यव अथवा धान होता है, जो कृषि-उत्पाद है । इसके विकृतियाग में आरण्य अन्न उपयोग में आता है, वह 'निरूढ पशु' है—विना जोते-बोये उत्पन्न हुआ अन्न । इसको संस्कृत करके आहुतियोग्य बनाया जाता है । उक्त वाक्य में अधर्वर्यु से प्रश्न किया गया—तुमने जो पशु [निरूढ पशु=आरण्य अन्न] से यजन कराया है, इसकी दीक्षा क्या है ? अधर्वर्यु का उत्तर है—छह होताओं को जो होम पर लगाया है, यही इसकी दीक्षा है । इसका तात्पर्य है—यह अङ्गभूत कर्म है, इसकी कोई दीक्षा नहीं होती । यहाँ अङ्गकर्म में दीक्षा के अभाव से दक्षिणा का भी अभाव जाना जाता है । यह वर्णन उक्त कथन को पुष्टि देता है कि दीक्षा और दक्षिणा केवल प्रधानकर्म से सम्बद्ध हैं । एक बार प्रधानकर्म के लिए दीक्षित होकर अङ्गकर्म में दीक्षा की अपेक्षा नहीं रहती । दक्षिणा भी याज्ञिकों को प्रधानकर्म सम्पन्न होने पर एक बार दी जाती है । प्रति-अङ्ग दक्षिणा देना असांस्कृतिक व अनपेक्षित है । फलतः दीक्षा व दक्षिणा प्रधानकर्म के लिए हैं, केवल उसी के अङ्ग हैं ॥१२॥ (इति दीक्षादक्षिणयोः प्रधानार्थताधिकरणम्—५) ।

(अन्तर्वेदैर्यूपानङ्गताधिकरणम्—६)

ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत अग्नीषोभीय पशु के प्रकरण में वाक्य है—'यो दीक्षितो यदग्नीषोभीयं पशुमालभते' जो दीक्षित यजमान जिस अग्नीषोभीय पशु का आलभन करता है; उसको बांधने के लिये शूप के विषय में वचन है—'वज्जो वै शूपो यदन्तवेदिमिनुयात् तनिर्देहेत्, यद् वहिवेदि अनवरुद्धः स्यात्; अद्वमन्तवेदिमिनोति अद्व वहिवेदि, अवरुद्धो ह भवति न निर्दहति' [मैत्रा० सं० ३।६।४] पशु को बांधने के लिए जो शूप गाड़ा जाता है, यदि उसके लिए वेदि के अन्दर भूमि नापी जाती है, तो वह यजमान के लिए कष्टप्रद है; क्योंकि वेदि के अन्दर भूमि में पशु बंध जाने से यागसम्बन्धी अन्य अपेक्षित कार्यों के सम्पादन में बाधा होगी । यदि वेदि से बाहर दूर शूप गाढ़ने के लिए भूमि भापी जाती है, तो शूप अतिर्दूर हो जाने पर पशुसम्बन्धी अपेक्षित कार्य सुचारू रूप से सम्पन्न न हो सकेगा । इसलिए शूप के लिए भूमि की माप आधी वेदि में और आधी बाहर की जाय । इसका तात्पर्य है—वह भूमि न वेदि के अधिक समीप होन अतिर्दूर । कार्य की अपेक्षा से उचित दूरी पर शूप का स्थान होना चाहिए । उक्त वाक्य का

मुख्य लक्ष्य यूप-स्थान का निश्चय करना है। यहाँ संदेह है—वेदि का निर्देश यूप के अङ्गरूप में हुआ है? अथवा यूप-स्थान के निश्चय के लिए संकेतमात्र है?

यदि अन्तर्वेदि-बहिर्वेदि पदों का यह अर्थ है कि यूपस्थान आधा वेदि में आधा बाहर हो, तो यूपमान कार्य का वेदि अङ्ग होगा। यदि केवल यूपमान का संकेत करने के लिए वेदि पद है, तो वह यूपमान को लक्षित करेगा। उचित स्थान पर गढ़ा सोडकर यूप के अपेक्षित भाग को गढ़े में डालकर उसे खड़ा करना यूपमान है। प्रतीत होता है, दीक्षा-दक्षिणा के समान 'अन्तर्वेदि, बहिर्वेदि' वचन-सामर्थ्य से वेदि प्रधानकर्म यूपमान का अङ्ग है।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में सूचित किया—

तथा यूपस्थ वेदिः ॥१३॥

दीक्षा और दक्षिणा वचनसामर्थ्य से जैसे प्रधान के अङ्ग हैं [तथा] वैसे ही [वेदिः] एकदेश द्वारा महावेदि [यूपस्थ] गढ़े जाते हुए यूप का अङ्ग है।

वेदि यूप का उसी प्रकार अङ्ग है, जिस प्रकार दीक्षा और दक्षिणा प्रधानकर्म के अङ्ग हैं। खोदे गये गढ़े में यूप का रखना यहाँ प्रधानकर्म है। गढ़े में यूप को इस प्रकार रखना चाहिए, जिससे यूप का आधा भाग वेदि की सीमा के भीतर और आधा बाहर रहे। इससे 'अर्द्धं बहिर्वेदि, अर्द्धं मन्तवेदि' श्रुतिवचन अनुगृहीत होते हैं। 'वेदि' पद यदि देश को लक्षित करने के लिए माना जाय, तो यह अशास्त्रीय होगा। वेदि पद से शक्तिबोध अर्थ के संभव होने पर लक्षण से बोध्य अर्थ न्याय नहीं माना जाता। वेदि को यूप का अङ्ग मानने पर वेदि पद से यूप-स्थान वौचित होता है, इसलिए यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश मानना चाहिए ॥१३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समावान किया—

देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् ॥१४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का घोतक है। तात्पर्य है—उक्त वाक्य में यूप के अङ्गभाव से वेदि का निर्देश माना जाना युक्त नहीं है। [देशमात्रम्] वेदि पद केवल यूपमान के देश-विशेष का निर्देश करता है; [अशिष्येण] अकथनीय—अन्यथ के अयोग्य 'अर्द्धं बहिर्वेदि' के साथ 'अर्द्धं मन्तवेदि' की [एकवाक्यत्वात्] एकवाक्यता होने के कारण।

वेदि यूप का अङ्ग नहीं है। यदि यूप का अङ्ग मानते हैं, तो 'अर्द्धं मन्तवेदि भिन्नतात्, अर्द्धं बहिर्वेदि भिन्नतात्'—'आधा वेदि के भीतर मापे, आधा वेदि के बाहर मापे' वचन में भीतर-बाहर दोनों परस्पर-विरुद्ध है। एक वाक्य में दो परस्पर-विरुद्ध विधान नहीं हो सकते; तब इनको भिन्न वाक्य मानना होगा। वाक्य-मेद दोष माने जाने के कारण अभीष्ट नहीं है। अतः वेदि को यूप का अङ्ग मानना,

परित्थाग करना होगा। उस अवस्था में स्पष्ट है कि वेदि पद अपने मुख्य अर्थ को छोड़कर 'अन्तर्-वहिर्' पदों के सहयोग से लक्षणाशवित हारा 'वेदि-सामीप्य' अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इससे अन्तर्वेदि-बहिर्वेदि पदों की एकवाक्यता स्पष्ट हो जाती है। ये वाक्य मिलकर एक अर्थ को प्रकट करते हैं कि वेदि के समीप यूप की स्थापना करे, जो वेदि से न अतिरूप हो और न वेदि से सटा हो। फलतः वेदि-घटित पदसमूह की एकवाक्यता के कारण ये पद यूपमान के देशविशेष का निर्देश करते हैं। ऐसी दशा में वेदि को यूप का अङ्ग कहना संगत न होगा, क्योंकि ये वाक्य यूप का विधान नहीं करते। विधान करने पर उसके उपकारक होने के कारण वेदि को उसका अङ्ग माना जाता। ये पद केवल देशविशेष का निर्देश करते हैं॥१४॥ (इति अन्तर्वेदेर्यूपानङ्गताधिकरणम्—६)।

(हविर्धानस्य सामिधेन्यनङ्गताधिकरणम्—७)

ज्योतिष्ठोम प्रसंग में वाक्य है—'उत यत्र सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः' तथा जहाँ सोम का अभिष्व उकते हैं, वहाँ सामिधेनियों को बोलें। ज्योतिष्ठोम में 'हविर्धान' नाम का मण्डप होता है; उसके दक्षिण और उत्तर में दोनों ओर दो शक्ट (= छाड़े या गाड़ी) रहते हैं; उन्हें भी 'हविर्धान शक्ट' अथवा 'हविर्धान' कहा जाता है। उनमें से दक्षिण हविर्धान (शक्ट) में भरे सोम को उतारकर उसके नीचे अधिष्ववण कलकों पर अभिष्व किया जाता है; अर्थात् सोम को कूट-छानकर रस निकाला जाता है। वाक्य में 'यत्-तत्' पद सप्तम्यन्त हैं। पाणिनिनियम [७।१।३६] से विभक्ति का लोप हो जाता है। 'अन्वाहुः' क्रियापद में बहुवचन अविवक्तित है। तात्पर्य है—जहाँ शक्ट के समीप नीचे सोम का अभिष्व करते हैं, उस समय होता द्वारा शक्ट पर बैठकर या खड़े होकर 'प्र वो बाजा अभिष्वः' [ऋ० ३।२७।१] इत्यादि सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण किया जाता है। उक्त वाक्य में यही अर्थ कथित है। इसमें सन्देह होता है—क्या हविर्धान का कथन यहाँ सामिधेनियों के अङ्गरूप में किया गया है? हविर्धानविशिष्ट सामिधेनियों का उच्चारण करे? अथवा हविर्धान इन उच्चारित की जाती हुई सामिधेनियों के केवल देश को लक्षित करता है? अर्थात् सामिधेनियों के उच्चारण के लिए केवल देश का संकेत करता है? प्रतीत होता है, वचनसामर्थ्य से हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग मानना चाहिए, क्योंकि हविर्धानविशिष्ट सामिधेनियों का उच्चारण किया जाता है। हविर्धान सामिधेनी-उच्चारण से सम्बद्ध होने के कारण सामिधेनी उच्चारण को उपकृत करता है।

इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

**सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्धानयोर्वचनात्
सामिधेनीनाम् ॥१५॥**

[हविर्धानयोः] दो हविर्धान-शकटों में से जिस एक दक्षिण शकट के समीप तीचे सोम का अभिषव होता है, वह [सामिधेनीस्तदन्वाहुः] 'यत् सुन्वन्ति सामिधेनीस्तदन्वाहुः' [इति वचनात्] इस वचन से [सामिधेनीनाम्] सामिधेनियों का अङ्ग है। प्रकरणवश यहाँ पद का अध्याहार है।

दक्षिण हविर्धान सामिधेनियों का अङ्ग है, क्योंकि सामिधेनियों के उच्चारण से उसका सम्बन्ध है। सम्बन्ध का आनुकूल्य अङ्गाज्ञिभाव मानने पर सम्भव है। यदि हविर्धान को अङ्ग नहीं माना जाता, तो यह पद अपने शक्तिबोध्य मुख्य अर्थ को छोड़कर लक्षण से सामीप्य का बोध करायेगा। मुख्य अर्थ का परित्याग दोष माना जाता है। इसलिए हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग मानना युक्त है ॥१५॥

बाचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान प्रस्तुत किया—

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यार्थकर्म सोमस्य ॥१६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का खोतक है। तात्पर्य है—हविर्धान सामिधेनियों का अङ्ग है, यह कथन संगत नहीं। वह [देशमात्रम्] केवल देश-विशेष का कथन है, [हि] क्योंकि हविर्धान-शकट [सोमस्य] सोम का [अर्थ-कर्म] प्रयोजनरूप कर्म [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष जात है। तात्पर्य है—वह दक्षिण हविर्धान-शकट वहाँ सोम को लाने के प्रयोजन से है; सामिधेनियों के उच्चारण के प्रयोजन से नहीं।

आपस्तम्ब [११।१७।१] का लेख है—‘दक्षिणस्य हविर्धानस्य नीडे कृष्णाज्ञिनास्तरणं राजश्चासादनम्’ दक्षिण हविर्धान-शकटरूप नीड (= धोंसला—आवासस्थान) में कृष्णाज्ञिन (=कृष्णमृगचर्म) बिछाकर राजा सोम का वहाँ लाया जाना शकट का मुख्य प्रयोजन है। तात्पर्य है—हविर्धान मण्डप के दक्षिण ओर शकट के विद्यमान होने का मुख्य प्रयोजन सोम को उसमें भरकर वहाँ लाना है। सामिधेनी ऋचाओं के उच्चारण प्रयोजन के लिए हविर्धान शकट की उपस्थिति वहाँ नहीं है। इसलिए हविर्धान को सामिधेनियों का अङ्ग बताने में कोई सांगत्य नहीं है।

वेदि के पश्चिम ओर होता यान्त्रिक का स्थान रहता है। पश्चिम भाग उत्तर-दक्षिण के बीच में रहता है। वेदि के उन दोनों ओर शकट खड़े रहते हैं, जो होता के समीप हैं। सामिधेनी ऋचाओं का उच्चारण अग्निसंदीपन के लिए उस समय अपेक्षित होता है। दक्षिणशकट के नीचे सोम का अभिषव किया जाता है। होता

का स्थान उसके समीप है। हविर्धनि उसी देश को लक्षित करता है। 'यत्सुन्वन्ति' में 'यत्' पद सप्तमन्त है। सप्तमी विभक्ति सामीक्ष्य अर्थ को प्रकट करती है। जैसे 'गंगायां घोषः' अथवा 'कूपे गर्गकुलम्' वाक्यों में 'गंगायां' और 'कूपे' पदों की सप्तमी का अर्थ गंगा के समीप अथवा कूप के समीप है, ऐसे ही जहाँ अभिषब्द है, वहाँ सामिधेनियों को बोले। अभिषब्द हविर्धनि के समीप स्थान में किया जाता है। हविर्धनि के समीप उपस्थित होता अग्निसंदीपनार्थ सामिधेनियों का उच्चारण करे। इस रूप में हविर्धनि समीप के देश को लक्षित करता है। मुख्य अर्थ की असम्भावना में लक्षणाबोध्य अर्थ दोष नहीं माना जाता। हविर्धनि सामिधेनियों का कोई उपकारक नहीं है, इसलिए हविर्धनि को सामिधेनियों का अङ्ग कहना अयुक्त है॥१६॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने अन्य प्रकार से पुष्ट किया—

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥

[समाख्यानग्] शकट का समाख्यान=हविर्धनि नाम [च] भी [तद्वत्] उसी प्रकार सोम के आधार होने का बोध करता है।

शकट का 'हविर्धनि' नाम अन्वर्य है; वस्तुस्थिति के अनुसार है। यज्ञिय हवि=सोम को भरकर लाने का साधन—वाहन। शकट में भरकर सोम यज्ञमण्डप वेदि के समीप लाया जाता है। यह 'हविर्धनि' नाम भी शकट का सम्बन्ध सोम के साथ अभिव्यक्त करता है। वेदि के दक्षिणकोण पर हविर्धनि-शकट की उपस्थिति सोम लाने के कारण है। फलतः हविर्धनि को सामिधेनियों का अङ्ग कहना अशास्त्रीय है॥१७॥ (इति हविर्धनिस्य सामिधेनियनञ्जलताधिकरणम्—७)।

(अङ्गानामन्यद्वाराऽनुष्ठानाधिकरणम्—८)

शास्त्र में फल की कामना से कर्मानुष्ठान का विधान है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' [मैत्रा० आर० ६।३७] स्वर्ग की कामनावाला अग्निहोत्र होम करे। 'दर्श-पूर्णमासाभ्यां स्वर्गंकामो यजेत्' [ब्राप० श्रो० ३।१४।८] स्वर्ग की कामनावाला दर्श-पूर्णमास यजन करे। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गंकामो यजेत्' [आप० श्रो० १०।२।१] स्वर्ग की कामनावाला ज्योतिष्टोम से यजन करे। इनमें सन्देह है—क्या ये सब कर्म यजमान द्वारा स्वयं करने चाहिए? अथवा मुख्यकर्म स्वयं करे, शेष कर्म दक्षिणा आदि से श्रीत अन्य करे, अथवा स्वयं करे? अथवा शेषकर्म अन्य क्रृत्विज् आदि ही करे?

यहाँ सन्देह में तीन पक्ष प्रस्तुत किये हैं—

(१) सभी कर्मों (प्रधान और अङ्गों) का अनुष्ठान यागकर्ता यजमान स्वयं करे।

(२) याग के प्रधान भाग का यजमान स्वयं अनुष्ठान करे, अङ्गभूत कर्मों का अनुष्ठान चाहे स्वयं करे, अथवा अन्य से कराये।

(३) केवल प्रधानभाग का स्वयं अनुष्ठान करे, शेष (अङ्गभूत) कर्मों का अनुष्ठान ऋत्विज् आदि अन्य द्वारा ही कराये।

इनमें पहले दो पूर्वपक्ष और अन्तिम सिद्धान्तपक्ष हैं।

प्रथम पूर्वपक्ष आचार्य सूत्रकार ने सूचित किया—

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात् स्वयं
प्रयोगे स्थात् ॥१८॥

[शास्त्रफलम्] शास्त्र द्वारा वोधित स्वर्ग आदि फल [प्रयोक्तरि] प्रयोक्ता = यागकर्ता के विषय में जाना जाता है, [तल्लक्षणत्वात्] अजेत् आदि क्रियाओं द्वारा यजमान के लिए लक्षित होने के कारण, [तस्मात्] इसलिए [स्वयम्] अपने-आप यजमान [प्रयोगे] कर्मों के अनुष्ठान में कर्ता [स्थात्] होता है।

सम्पूर्ण कर्मानुष्ठान यजमान को स्वयं करना आहिए, क्योंकि शास्त्र स्वर्गं आदि फलप्राप्ति की कामनावाले व्यक्ति को ही यजन का अविकारी बताता है। याग स्वर्ग का साधन है। यजमान स्वर्ग प्राप्त करना चाहता है, तो स्वयं के साधनभूत याग का पूर्णरूप में अनुष्ठान उसे करना ही होगा। यदि स्वयं न कर अन्य से कराएगा, तो उसे स्वर्गफल कैसे मिलेगा? अङ्ग कर्मानुष्ठान के सहित पूर्णयाग का अनुष्ठान ही अनुकूल फल देनेवाला सिद्ध होता है। इसलिए सभी कर्मों का अनुष्ठान यागकर्मा यजमान स्वयं करे, यही युक्त प्रतीत होता है ॥१८॥

आचार्य सूत्रकार ने प्रथम पक्ष का निषेध करते हुए द्वितीय पक्ष प्रस्तुत किया—

उत्सर्गं तु प्रधानत्वात् शेषकारी प्रधानस्य, तस्मादन्यः
स्वयं वा स्थात् ॥१९॥

[तु] 'तु' पद पूर्वसूत्रोक्त पक्ष की निवृत्ति वा द्योतन करता हुआ द्वितीय पक्ष को सूचित करता है। तात्पर्य है—अङ्ग-सहित सब कर्म द्यजमान करे, यह युक्त नहीं है। क्योंकि [उत्सर्गे] दिलिणा आदि द्वारा ऋत्विजों का परिक्षय करते में यजमान का [प्रधानत्वात्] प्राधान्य होने से [शेषकारी] शेष कार्य को करनेवाला ऋत्विज् आदि [प्रधानस्य] परिक्षय करते वाले यजमान का प्रतिनिधि होता है। तात्पर्य है—परिकीर्त ऋत्विज् आदि का किया कार्य यजमान का ही किया माना जाता है। [तस्मात्] इसलिए [अन्यः] अन्य—परिकीर्त ऋत्विक् आदि [वा] अथवा [स्वयम्] अपने-आप यजमान योप कार्यों का करनेवाला

[स्यात्] होता है।

यागानुष्ठान के लिए दक्षिणा आदि द्वारा ऋत्विजों का परिक्रम करना— खरीदना, अथवा धन देकर यागादि अपना कार्य करने के लिए अनुकूल बनाना 'उत्सर्ग' कहाता है। ज्योतिष्टोम आदि कोई याग हो, अनेक अङ्गों में पूरा होता है। उनमें 'उत्सर्ग' एक प्रधान अङ्ग है। यह केवल यजमान के द्वारा किया जाता है। यह आवश्यक अङ्ग है। कई दिन तक व्यवस्थित रूप से चलनेवाले यागों में यजमान यदि रोगादि अथवा अन्य किसी अनिवार्य कारण से यागानुष्ठान-काल में अनुपस्थित रहता है, तो परिक्रीत ऋत्विक् आदि याग-कार्य को संचालित करते रहते हैं, उसमें कोई व्यतिक्रम नहीं आता। इसलिए याग के अङ्गों में 'उत्सर्ग' का अनुष्ठान आवश्यक है, और उसको यजमान ही कर सकता है, क्योंकि यागार्थ परिक्रम के लिए धन-व्यय बही कर सकता है। अतः यह युक्त प्रतीत होता है कि याग के मुख्य अङ्ग 'उत्सर्ग' का अनुष्ठान केवल यजमान करे। शेष कार्य परिक्रीत ऋत्विक् आदि करें, अथवा यजमान स्वयं करे॥१६॥

अब तृतीय सिद्धान्तपाद आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद् विप्रतिषेधात् प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त 'अन्य करे वा स्वयं करे' इस विफल्प की व्यावृत्ति का दोतक है। परिक्रम के अतिरिक्त शेष कर्म करनेवाला [अन्यः] अन्य, परिक्रीत ऋत्विक् आदि [स्यात्] होता है, [परिक्रयाम्नानात्] परिक्रम का शास्त्र में विधान होने से, [प्रत्यगात्मनि] अपने-आप में परिक्रम का [प्रतिषेधात्] प्रतिषेध— विरोध होने से। तात्पर्य है, अपने-आपका स्वयं परिक्रम न हो सकने से अन्य का परिक्रम करके स्वयं करना उपर्यन्त नहीं होता।

शास्त्रों द्वारा अपेक्षित यज्ञों में अनिवार्यरूप से परिक्रम का विधान है। किस यज्ञ में कितनी दक्षिणा परिक्रम की होनी चाहिए,—इस सबकी व्यवस्था की गई है। अभिहोत्र तथा दर्श-पूर्णमास यज्ञ जीवनपूर्यन्त नियमित रूप से किये जानेवाले कर्म हैं। इनमें अभिहोत्र के लिए कोई परिक्रम नहीं है; उसे स्वयं करना चाहिए। किसी कारणवश कभी अपने-आप करने में व्यक्ति समर्थ न हो, तो वह पत्ती व शिष्य द्वारा कर्म को व्यास्थित रूप से कराता रहे। दर्श-पूर्णमास में परिक्रम है, पर वहाँ ऋत्विजों की दक्षिणा केवल भरपूर भोजन कराना है। ये यज्ञ एक महीने में केवल दो दिन अमावास्या और पूर्णमासी को होते हैं। यज्ञानुष्ठान के अनन्तर ऋत्विजों को उस दिन 'पूर्ण भोजन करा देना मात्र' दक्षिणा है। शेष कर्मों की दक्षिणा उनके समय व अनुष्ठान के अनुसार नियत है। उस दक्षिणा को देने में तथा यज्ञ की पूर्ण व्यवस्था करने में जो व्यक्ति समर्थ होता है, वही उसके करने

का अधिकारी है। इस व्यवस्था के अनुसार अपेक्षित यज्ञों में परिक्य एक अनिवार्य मुख्य अङ्ग है, तथा आपने-आपका स्वयं परिक्रय सम्भव नहीं, एवं अपरिक्रीत व्यक्ति शेष कर्म करने में अधिकारी नहीं। इसलिए परिक्रेता (परिक्य करने-वाला) यजमान के बल इसी मुख्य अङ्ग का अनुष्ठान करता है, शेष सब कर्म परिक्रीत कृत्विजों द्वारा ही कराये जाते हैं। इसलिए 'परिक्रीत कृत्विजों द्वारा शेष कर्म कराये, अथवा यजमान स्वयं करे' यह गत सूत्र का विकल्प-कथन युक्त नहीं है। फलतः यह सिद्धान्त निर्दिष्ट होता है कि केवल परिक्रय-कर्म यजमान करे, शेष सम्पूर्ण कर्म परिक्रीत कृत्विजों द्वारा सम्पन्न कराया जाय। सूत्र का यह आशय सूत्र के 'वा' पद को 'एव' अर्थ में मानकर अधिक स्पष्ट हो जाता है।

यागानुष्ठान में कृत्विजों के परिक्रय की व्यवस्था ठीक उसी प्रकार की प्रतीत होती है, जैसे कोई देश का मुख्य प्रशासक अनेक व्यक्तियों का—उनके बौद्धिक, प्रातिभ व प्रशासनिक स्तर के अनुसार भूति (भरण-पोषण के लिए धन-राशि) देकर—परिक्रय करता है, एवं अपने कार्य-सम्पादन के लिए उन्हें अनुकूल बनाता है। वे व्यक्ति ऊपर से नीचे स्तर तक अपने पदों पर निर्धारित कार्य करते हुए समस्त प्रशासन का संचालन करते हैं। उनका किया हुआ कार्य मुख्य प्रशासक का ही जाना जाता है, जिसने उनका परिक्रय किया है। उनके कार्य से होनेवाले हानि-लाभ-फल का भोक्ता मुख्य प्रशासक होता है। मुख्य प्रशासक का इतना ही कार्य है कि वह व्यक्ति का परिक्रय करे; अथवा उसके द्वारा निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार व्यक्ति का परिक्रय किया जाय। प्रशासन का शेष समस्त कार्य परिक्रीत व्यक्ति ही संचालित करते हैं।

कठिपय आधुनिक व्यक्तियों का कहना है कि राज्य-प्रशासन-पद्धति के साथ यज्ञकर्म को सन्तुलित करना सर्वथा असंगत है। राज्य-प्रशासन समाज को मुसंभित रखता है। विविध प्रकार की विपदाओं से सामाजिक सुरक्षाओं की गारण्टी देता है। प्रशासन का यह प्रत्यक्षदृष्ट प्रयोजन है। पर यज्ञकर्म का समाज के लिए कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं है। अदृष्ट प्रयोजन कहकर साधारण जन के मन को बहलाया जाता है। यदि देखा जाय तो यह केवल एक विशिष्ट वर्ग के कठिपय व्यक्तियों के जीवन-निवाह का साधनमात्र है।

इसी को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए मीमांसा के ब्रह्मस्तुत अधिकरण का यह निर्णय है कि ज्योतिष्टोम आदि याग का अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति अनिवार्य रूप से—अनुष्ठान के लिए—कृत्विजों का परिक्रय करे। यह एक विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों के जीवन-निवाह का निर्वाचित पक्षा साधन बना दिया गया है।

यज्ञकर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की भावनाएँ बहुत पुराने समय से उभारी जाती रही हैं। चावकिदर्शन की एक प्रसिद्ध उक्ति है—

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बृद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥

नावकिदर्शन के प्रतिष्ठाता बृहस्पति ने कहा था—ये अग्निहोत्र आदि कर्म पौरुषहीन व्यक्तियों को जीविकामात्र हैं। कहनेवाले पुराने हों या नये, पर यह स्पष्ट है कि ऐसे कथन किन्हीं दुर्वह भावनाओं से अभिभूत व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं। प्रतीत होता है, उन्होंने गम्भीरता से इस विषय पर चिन्तन करने का कभी कष्ट नहीं उठाया। यदि इसपर गहराई से ध्यान दिया जाता है, तो समाज की सुरक्षा व सुस्थिता के लिए यज्ञकर्म कहाँ तक उपयोगी है, यह चर्मचक्षु से भले ही दिसाई न दे, पर कोई विज्ञ व्यक्ति उससे नकार नहीं कर सकेगा।

यज्ञकर्म का साधारण स्तर यह है—आग्र, पलाश या चमी (छोंकरा) आदि हल्की लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़ों में अग्नि प्रज्वलित की जाती है, जिसके लिए विशिष्ट स्थान पहले बनाया रहता है। इसको 'वेदि' कहा जाता है। इसके लिए साधारण भूस्तर से कुछ ऊँचा उठाकर गोल, चौकोर या आयताकार त्वचिण्डल (=चढ़वतरा) पहले बना लिया जाता है; इसे 'यज्ञमण्डप' कहते हैं। प्रज्वलित अग्नि में कतिपय द्रव्यों की आहूति दी जाती है। इन द्रव्यों में शुष्क ओषधि, वनस्पति, मेवा तथा खांड आदि होते हैं। अन्यों में विशेषकर ब्रीहि और यव होते हैं। इनके अतिरिक्त मूल्य द्रव्य आज्य है। ये सब मिलकर 'हविर्द्रव्य' अथवा 'आहवनीय द्रव्य' कहे जाते हैं। 'आहवनीय' उस प्रज्वलित अग्नि का नाम है, जिसमें इन द्रव्यों की आहूति दी जाती है।

आहवनीय द्रव्यों के विषय में यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि जो सामग्रो-द्रव्य शुष्क ओषधि, वनस्पति, मेवा आदि को उपयुक्त भाग में मिलाकर तैयार किया जाता है, उसमें क्रहु के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। इससे ज्ञात होता है—विभिन्न क्रहुओं में परिवर्तित होनेवाले बाह्य वातावरण के साथ इसका सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता, तो क्रहिर्द्रव्य के—क्रहु-अनुसार परिवर्तन की कोई आवश्यकता न रहती। जीवन-निर्वाह एवं उन्नत अस्युदय की प्राप्ति के लिए मानव द्वारा अनेक ऐसे कार्य किये जाते हैं, जिनसे बायुमण्डल में प्रदूषण उत्पन्न हो जाता है, जो विविध प्रकार के रोग—तथा ओषधि-वनस्पतियों में विकार के—उभारने में सहायक होता है। ज्ञात होता है—तात्कालिक समाज-व्यवस्थापक शीर्षण व्यक्तियों ने संकड़ों वर्षों तक ओषधि-वनस्पतियों के गुण-बाबूगुण आदि की परीक्षा कर यह निर्धारित किया कि किस क्रहु में किन द्रव्यों को सम्मिश्रित कर हविर्द्रव्य तैयार किया जाना चाहिए, जिससे क्रहु के अनुसार बायुमण्डल में फैले प्रदूषण का निवारण किया जा सके। यह भी ध्यान देने की बात है कि प्रज्वलित अग्नि में आहूत द्रव्य का स्थूल भाग दग्ध होकर सूक्ष्म

अवस्था में परिणत तत्त्व वायुमण्डल के अदृश्य प्रदूषण-विकारों को दूर कर उसे जीवनोपयोगी बना सकते हैं। अग्नि को देवों का दूत बताया गया है। वह हवि को वहन कर देवों तक पहुँचाता है [ऋ० १। १२। १-२]। औषधि-वनस्पतियों आदि में मानव आदि प्राणी के जीवनोपयोगी तत्त्व ही वे देव हैं; उनसे अतिरिक्त अन्य कोई देव नहीं। अग्निहोत्रादि यज्ञ द्वारा चतुरुल्प्रसूत वायुमण्डल के प्रदूषण को दूर कर उन देवों को पुष्ट व स्वस्थ रखना ही देवपूजा है। इस विषय में भीता [३। १०-१२] का महत्वपूर्ण कथन गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है। मानव के साथ यज्ञमावनाओं का सम्बन्ध सर्वकालिक है और अपेक्षित भी है।

प्राचीनकाल में आहितानि (अग्निहोत्र आदि के लिए घर में पवित्र अग्नि का आधान करनेवाला) होना राजकीय विधान के अन्तर्गत रहा; ऐसा तात्कालिक एक उक्ति से ज्ञात होता है। उक्ति है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निनार्विद्वान् न स्वेरी स्वेरिणी कुतः ॥

एक सम्माट के पास आये शिष्टमण्डल के प्रति सम्माट ने कहा—मेरे द्वारा प्रशासित जनपद में स्तेन, कदर्य, मद्यप, अनाहिताग्नि, अविद्वान्, स्वेरी-स्वेरिणी कोई नहीं है। चोरी करना, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार व अनुचित रीति पर धन कमाकर संग्रह करना, समाज के लिए उसका कोई उपयोग न करना अर्थात् आज़कल नम्बर दो के नाम से प्रसिद्ध कमाई, मद्यपान, विद्याग्रहण न करना, बलात्कार करना—ये सब बातें किसी भी राजकीय विधान के अन्तर्गत आती हैं। इनका करनेवाला राज्य-दण्ड का भागी होता है। इसी कोटि में अनाहिताग्नि को गिना गया है। तात्पर्य है—जिसने अग्निहोत्र आदि यज्ञानुष्ठान के लिए अग्नि का आधान न किया हो, वह भी उस काल में दण्डनीय माना जाता था। यह तथ्य उक्त श्लोक से प्रकट होता है। इससे पह भी जाना जाता है कि अग्निहोत्र आदि कार्मों का सामाजिक प्रयोजन अधिक था।

आध्यात्मिक प्रयोजन भी अवश्य है, परन्तु उसका परलोक से इतना सम्बन्ध नहीं, जितना इस लोक से है। किसी भी विधि-विधान का यथावत् पालन व्यक्ति को सदा याहरी, धीर, अदीन, उत्साही, सत्याचरणसम्पन्न बनाये रखने में पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। मनोवृत्तियाँ ऐसी स्थिति में सदा सन्तुलित रहने से व्यक्ति जीवनयात्रा को मुक्त-मुविधापूर्वक सम्पन्न करने में समर्थ होता है। क्या ऐसे जीवन को स्वर्ग नहीं कहा जा सकता? वास्तव में इससे बढ़कर स्वर्ग की कल्पना आकाश-कुसुम के समान है। यदि इससे परलोक भी सुखमय बनता है, तो इसमें हानि क्या है? फलतः अग्निहोत्र आदि कार्म किन्हीं विशेष वर्ग के व्यक्तियों की केवल जीविकामात्र के साधन नहीं हैं; ये समाज की सुख-समृद्धि के

लिए भी महस्त्वपूर्ण साधन हैं। विकार को प्राप्त होकर प्रत्येक हरी-भरी वस्तु सङ् जाती है। इनके अनुष्ठान में उस सङ्गांद से वचना चाहिए ॥२०॥ (इति अङ्गा-नामन्यद्वाराऽनुष्ठानाधिकरणम्—८) ।

(परिक्रीतानामृत्विजां संख्याविशेषनियमाधिकरणम्—६)

ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों के अनुष्ठान के लिए यजमान कितने ऋत्विजों का परिक्रय करे? अथवा कितने ऋत्विज् होने चाहिए? इसका निर्णय करने के लिए सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

तत्रार्थात् कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

[तत्र] उन ऋत्विजों के परिक्रय के विषय में [अर्थात्] अर्थ—प्रयोजन के अनुसार [कर्तृपरिमाणम्] अनुष्ठान करनेवालों की संख्या [स्यात्] होनी चाहिए; [अविशेषात्] इस विषय में कोई विशेष कथन न होने से [अनियमः] संख्याविषयक अनियम ही जानना चाहिए।

यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान के लिए कितने ऋत्विजों का परिक्रय किया जाय? ऐसी नियत संख्या अनावश्यक है। जितना अनुष्ठेय कर्म है, अथवा जितने ऋत्विजों से अनुष्ठेय कर्म सम्पन्न किया जा सके, उतने का परिक्रय कर लेना चाहिए। ऋत्विजों की विशेष संख्या का कोई निर्देश भी उपलब्ध नहीं है। इसलिए संख्याविषयक अनियम ही उपयुक्त है। जिस यज्ञ में जितने ऋत्विजों की आवश्यकता हो, उतने परिक्रय कर ले ॥२१॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥२२॥

[अपि वा] ये सम्मिलित दो पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के द्योतक हैं। तात्पर्य है—‘प्रयोजन के अनुसार ऋत्विजों का परिक्रय करे’ कथन युक्त नहीं है; [श्रुतिभेदात्] श्रुतिद्वारा प्रतिपादित भेद के कारण [प्रतिनामधेयम्] प्रत्येक नाम के अनुसार ऋत्विजों की संख्या [स्युः] होनी चाहिए।

ज्योतिष्टोम आदि याग-विषयक वैदिक वाङ्मय में ऐसे वचन उपलब्ध हैं, जिनमें विभिन्न ऋत्विजों द्वारा अलग-अलग विशिष्ट कर्म किये जाने का निर्देश है। वहीं विभिन्न कर्म अलग-अलग ऋत्विजों का नाम लेकर अनुष्ठान के लिए बांटे गये हैं। वह सन्दर्भ इस प्रकार है—

“तान् पुरोऽर्घ्यर्थाविभजति—प्रतिप्रस्थाता मन्थितं जुहोति, नेष्टा पत्नीमस्युदानयति, उन्नेता चमसान् उन्नयति, प्रस्तोता प्रस्तोति, उद्गाता उद्गायति, प्रतिहर्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यमाहूपयति, होता प्रात-

रनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावहणः प्रेष्यति, अच्छावाको यजति, प्रावस्तुव् प्राव-
स्तोत्रीयामन्वाह ।”

“पहले अध्यर्थु उनका कार्यविभाजन करता है—प्रतिप्रस्थाता मन्थी ग्रह का
होम करता है, नेष्टा यजमानपत्ति को योक्त्र बाँधता है, उन्नेता चमसों को
सौमरस से भरता है, प्रस्तोता साम के ‘प्रस्ताव’ नामक प्रथम भाग^१ का उच्चारण
करता है, उद्गाता ‘उद्गीथ’ नामक द्वितीय भाग का उच्चारण करता है, प्रति-
हर्ता ‘प्रतिहार’-संज्ञक तृतीय भाग का उच्चारण करता है, सुब्रह्मण्य ‘सुब्रह्मण्य’
नामक निगद का पाठ करता है, होता प्रातरनुवाक का पाठ करता है, मैत्रावहण
प्रैष (=प्रेरणा) देता है, अच्छावाक यजन करता है, ग्रावस्तुत् ग्रावस्तोत्रीया
ऋचा का पाठ करता है ।” सन्दर्भ में बारह ऋत्विजों का निर्देश है ।

यद्यपि संख्या का निर्देश-सन्दर्भ नहीं है, पर विभिन्न कर्मों का अनुष्ठान
प्रत्येक ऋत्विज् के नाम-निर्देश के साथ बताया गया है । इनमें तीन ऋत्विज्
मुख्य हैं—अध्यर्थु, होता, उद्गाता । प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी हैं । इस प्रकार
ऋत्विजों की संख्या १२ होती है । यहाँ एक अन्य मुख्य ऋत्विज् ब्रह्मा का उल्लेख
नहीं हुआ । उसके भी तीन सहयोगी होते हैं । इस प्रकार ऋत्विजों की संख्या
१६ होती है । यह निम्न प्रकार समझना चाहिए—

अध्यर्थुगण	होतूगण	उद्गातूगण	ब्रह्मण
अध्यर्थु	होता	उद्गाता	ब्रह्मा
प्रतिप्रस्थाता	मैत्रावहण	प्रस्तोता	ब्राह्मणाच्छंसी
नेष्टा	अच्छावाक	प्रतिहर्ता	अग्नीत्
			(=आग्नीप्र)
उन्नेता	ग्रावस्तुत्	सुब्रह्मण्य	पोता ^२

१. साम के पांच भाग होते हैं—प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव, निघन ।
२. इन चारों गणों में दूसरी संख्यावाले ऋत्विजों की अर्थिन्, तीसरी संख्या-
वालों की तृतीयिन् और चतुर्थ संख्यावालों की पादिन् संज्ञा है । यह संज्ञा
दक्षिणा के भेद से है । यदि अग्निष्टोम की एक सहस्र (१०००) दक्षिणा हो
तो उनका विभाग इस प्रकार जानना चाहिए—एक सहस्र रूपयों को पहले
चार भागों में बाँटने पर प्रत्येक गण के हिस्से में २५० रुपये आते हैं । फिर
उनका अपने-अपने गण के ऋत्विजों में बटोवारा होता है । प्रत्येक गण के
प्रमुख अध्यर्थु, होता, उद्गाता और ब्रह्मा को १२०-१२० रुपये, तदनन्तर
प्रत्येक गण के द्वितीय ऋत्विक् की अर्थिन् संज्ञा होने से ६०-६० रुपये,
तत्पश्चात् प्रत्येक गण के तृतीय ऋत्विक् की तृतीयिन् संज्ञा होने से १२०
रुपये का तीसरा भाग ४०-४० रुपये, प्रत्येक गण के शेष रहे चतुर्थ ऋत्विक्

लम्बे काल तक चलनेवाले सत्र-संज्ञक यामों में ये सोलह ऋत्विक् तथा सत्रहवाँ यजमान ये सब मिलकर अनुष्ठान करते हैं। जहाँ सब यजमान और सब ऋत्विक् हैं, वहाँ परिक्रम नहीं होता। इस दृष्टि से ऋत्विजों की संख्या सत्रह भी कही जाती है। परन्तु परिक्रम अथवा वरण किये जाने की स्थिति में ऋत्विजों की संख्या १६ निश्चित है॥२२॥

शिष्य आशंका करता है—कार्यभेद आदि से एक व्यक्ति के भी अनेक नाम हो जाते हैं। इसलिए केवल अनेक नामों का उल्लेख ऋत्विजों के परिमाण का निर्णयिक नहीं माना जाना चाहिए। शिष्य-आशंका को आचार्य सूत्रकार ने पूर्व-पक्षरूप में सूचित किया—

एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥२३॥

[एकस्य] एक व्यक्ति के [कर्मभेदात्] किये जाते कार्य के भेद से अनेक नाम लोक में व्यवहृत देखे जाते हैं [इति चेत्] ऐसी आशंका यदि करो तो (वह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

लोक में देखा जाता है, कार्यभेद से एक ही व्यक्ति के अनेक नाम व्यवहार में आते हैं। एक ही देवदत पाचक, गाजक, पाठक आदि नामों से पुकारा जाता है। उक्त सन्दर्भ में भी इसी प्रकार एक ही व्यक्ति के अनेक नामों का उल्लेख कार्य-भेद से होना सम्भव है। ऐसी दशा में केवल नामभेद ऋत्विजों की किसी नियत संख्या का निर्णयिक नहीं माना जाना चाहिए। इसलिए प्रयोजन के अनुसार ऋत्विजों का परिक्रम युक्त प्रतीत होता है॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

नोत्पत्तौ हि पुरुषाणाम् ॥२४॥

[न] यह नहीं है कि उक्त सन्दर्भ में एक ही व्यक्ति के कार्यभेद से मिल्ने की पादिन् संज्ञा होने से १२० रुपये का चतुर्थीश ३०-३० रुपये दक्षिणा जाननी चाहिए। [द्रष्टव्य—मीमांसाभाष्य अ० १०, पा० ३, अधि० १४ (सूत्र ५३-५५) का ज्योतिष्टोमे समाख्यानुसारेण दक्षिणाविभागाधिकरणम्]

इन ऋत्विजों में से कर्म के मध्य किसी ऋत्विक् की अपमृत्यु हो जाने पर अन्य को वरण किया जाता है। उसको तथा मूत ऋत्विक् के उत्तराधिकारी को उसके द्वारा त्रिप्रमाण कर्म के अनुसार दक्षिणा का विभाग धर्म-शास्त्रों में किया है। (यु० मी०)

१. सूत्र में 'पुरुषाणाम्' पद क्वचित् उपलब्ध होता है। भाष्य में 'नैतदेवम्, उत्पत्तौ हि पुरुषाणाम्' पाठ होने से 'पुरुषाणाम्' पद को भाष्यकार द्वारा बादृत मानकर सूत्र में पढ़ा है। (यु० मी०)

नाम कहे गये हों, [हि] व्योकि [पुण्ड्रणाम्] ऋत्विक् पुरुषों के [उत्पत्तौ] उत्पादन—वरण के कथन में भेद स्पष्ट है।

भूत्र में 'उत्पत्ति' पद का अर्थ उत्पादन—सम्पादन—कथन है। याज्ञिक पुरुषों के वरण-प्रसंग में एक-एक ऋत्विक् का पृथक् कथन किया गया है। उसके अनुसार वह विचार निराधार रह जाता है कि एक ही व्यक्ति को कार्यभेद के कारण अनेक नामों से कहा गया है। ऋत्विजों के वरण-प्रसंग में वाच्य हैं—‘अध्वर्यु वृणीते, होतारं वृणीते, उद्गातारं वृणीते, ब्रह्माणं वृणीते’ आदि—अध्वर्यु का वरण करता है, होता का वरण करता है, उद्गाता का वरण करता है, ब्रह्मा का वरण करता है, आदि। इस वरण-प्रसंग से स्पष्ट होता है, यह कार्यभेद से एक ही व्यक्ति के अनेक नामों का कथन नहीं है; ये सब पृथक् व्यक्ति हैं।

उक्त वाक्यों में अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि का निर्देश विधि नहीं है। अपूर्व अर्थ का कथन विधि कहा जाता है—‘यूपं छिनति’ में द्येदन से पूर्व अविद्यमान यूप का निर्देश विधि है। ऐसे ही ‘तण्डुलान् पिण्डित्वं’ में पेषण से पूर्व अविद्यमान चूर्णत्व की निष्पत्ति विधि है। पर उक्त वाक्यों में अध्वर्यु आदि का अपूर्व कथन न होने से ये विधि नहीं हैं; अनुवाद सर्वथा उसी का होता है, जो अन्य प्रकार से प्राप्त हो। इसलिए यहाँ न तो वरण से ब्रह्मा आदि नामधारी पुरुष का अपूर्व उत्पादन अभिप्रेत है और न यह ब्रह्मा आदि का अनुवाद करके वरण-विधि की प्रवृत्ति है। ऐसी दशा में यहाँ ब्रह्मा आदि का अवण अनर्थक होता हुआ संस्था-विशेष का बोधन करता है। यदि इसको ब्रह्मा आदि का विधि अवधार वरण का विधि माना जाय, तो यह संस्था का बोध कराने में असमर्थ रहेगा; क्योंकि एक वाक्य एकसाथ दो अर्थों का बोध नहीं करा सकता। तात्पर्य है—अध्वर्यु आदि नामों से उनका पृथक्-पृथक् वरण उनकी नियत संस्था का बोध करता है। फलतः न तो ये कार्यभेद से एक ही व्यक्ति के अनेक नाम हैं और न केवल प्रयोजन के अनुसार ऋत्विजों के परिक्रम्य में अनियम है। यह निहित व्यवस्था है कि दर्श-पूर्णमास, ज्योतिष्टोम, सोमवार आदि के अनुष्ठान में सर्वत्र नियत सोलह ऋत्विजों का परिक्रम्य व वरण किया जाता है॥२४॥ (इति परिक्रीतानामूत्तिविजां संस्थाविशेषनियमाधिकरणम्—६)।

(चमसाध्वर्यूणां पृथक्त्वाधिकरणम्—१०)

ज्योतिष्टोम में दश चमस कहे हैं—यजमान, ब्रह्मा, होता, उद्गाता, मैत्रा-वरण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, अच्छावाक, अध्वर्यु-संज्ञक; उन-उन ऋत्विजों से सम्बद्ध सोमरस के भरे आधारभूत दश पात्रविशेष हैं। इन चमसों में भरे सोम-रस का होम अध्वर्यु के द्वारा किया जाता है। यदि अध्वर्यु अर्थ कर्म भेद संलग्न हो तो उनके होम के लिए जो अन्य पुरुष वरण किये जाते हैं, वे चमसाध्वर्यु कहाते

हैं। उनके लिए वाक्य है—‘चमसाध्वर्युन् वृणीते’—चमसाध्वर्युओं का वरण करता है। यहाँ सन्देह है—वया ये चमसाध्वर्यु पहले कहे गये ऋत्विजों में अन्यतम हैं? अथवा उनसे भिन्न हैं?

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

चमसाध्वर्यवश्च तैव्यपदेशात् ॥२५॥

[च] तथा [चमसाध्वर्यवः] चमसाध्वर्यु-संज्ञक यज्ञकर्मकारी पूर्वऋत्विजों से भिन्न हैं, [तैः] उन प्रथम परिगणित ऋत्विजों के साथ सम्बद्ध होकर [व्यपदेशात्] इनका कथन होने से।

यज्ञकर्मकर चमसाध्वर्यु पूर्वपरिगणित ऋत्विजों से भिन्न होते हैं, क्योंकि उनका निर्देश शास्त्र में परिगणित ऋत्विजों के साथ सम्बद्ध कर किया गया है, जैसे—‘मध्यतःकारियों’ के चमसाध्वर्यु, होत्रकों के चमसाध्वर्यु—कहकर सम्बन्धवाचक घट्टी विभक्ति के साथ निर्देश है। ऐसे सम्बन्ध का निर्देश भिन्न व्यक्ति आदि में ही होता है। इसलिए प्रथम परिगणित ऋत्विजों से चमसाध्वर्यु-संज्ञक यज्ञकर्मकर भिन्न हैं।

टिष्ठणी-निर्दिष्ट सन्दर्भ में पढ़े गये होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान और रादस्य ‘मध्यतःकारी’ कहे जाते हैं। इसी प्रकार प्रशास्ता, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा, आमीद्र, अच्छावाक ‘होत्रक’ कहे जाते हैं। ‘मध्यतःकारियों’ के चमसाध्वर्यु तथा ‘होत्रकों’ के चमसाध्वर्यु ऐसा निर्देश इनके भेद को स्पष्ट करता है।

इसके अतिरिक्त यह भी भेद का साधक है कि पूर्वपरिगणित ऋत्विजों का वरण यजमान करता है, तथा चमसाध्वर्यु-संज्ञक कर्मकरों का वरण तत्सम्बद्ध ऋत्विजों द्वारा किया जाता है। यदि यजमान कभी इनका वरण करता है तो वह ऋत्विजों की आज्ञा व निर्देश के अनुसार ही करता है। इसलिए वह वरण भी ऋत्विजों द्वारा किया गया माना जाता है।

वरण-निर्देश-वाक्य भी इनके भेद के साधक हैं। यजमान द्वारा प्रथम ऋत्विजों का वरण एक-एक का पृथक् नाम लेकर किया जाता है—‘ब्रह्माण् वृणीते, अध्यर्यु वृणीते, होतारं वृणीते’ आदि। पर इसके विपरीत चमसाध्वर्यु-संज्ञक कर्मकरों का वरण प्रत्येक का पृथक् नामपूर्वक न करके अनेकों का इकट्ठा सामूहिक रूप में वरण करने का निर्देश है—‘चमसाध्वर्युन् वृणीते’। फलतः निश्चित होता है कि

१. द्रष्टव्य—भीमांसामाय्य ३।४।२२, अधिः ७। तथा ३।५।२३, अधिः ८। और भी ३।४।३३, अधिः १२ में ‘प्रेतु होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः प्रोद्गातृष्णां प्र यजमानस्य, प्र यन्तु सदस्यानां होत्रकणां चमसाध्वर्यवः’ [कात्या० शौ० ६।१।१३] आदि उद्धृत सन्दर्भ।

प्रथम परिगणित सोलह कृतिवर्जों से चमसाध्वर्यु नामक यज्ञकर्मकर मिल होते हैं ॥२५॥ (इति चमसाध्वर्योऽपृथक्त्वाद्विकरणम्—१०)।

(चमसाध्वर्योऽपृथक्त्वाद्विकरणम्—११)

शिष्य ने जिज्ञासा की—चमसाध्वर्यु कर्मकरों के वरण में सन्देह है—क्या एक, दो, बहुतों का इच्छानुसार वरण किया जाय? अथवा बहुतों का ही वरण किया जाय?

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥२६॥

[तु] 'तु' पद सन्देह की निवृत्ति का द्वोतक है—सन्देह नहीं करना चाहिए, क्योंकि [उत्पत्तौ] वरण के अतिदेश-वाक्य में [बहुश्रुतेः] बहुवचन का श्रवण होने से।

चमसाध्वर्यु कर्मकरों के वरण का अतिदेशवाक्य है—‘चमसाध्वर्यून् वृणीते’; द्वितीया बहुवचन के साथ निर्देश है। अन्यत्र भी ‘मध्यतःकारिणां चमसाध्वर्यवः’, होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः’ आदि में ‘चमसाध्वर्यवः’ रूप से बहुत्व का श्रवण होता है। अतः चमसाध्वर्यु कर्मकर बहुत होने चाहिए ॥२६॥ (इति चमसाध्वर्योऽपृथक्त्वाद्विकरणम्—११)।

(चमसाध्वर्योऽपृथक्त्वाद्विकरणम्—१२)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ज्योतिष्टोम में चमसाध्वर्यु नामक कर्मकर बहुत होने चाहिए, यह जाना; पर इसमें सन्देह है—क्या बहुत्व संख्या तीन से प्रारम्भ होकर इच्छानुसार चाहे जितनी हो, यह अनियम है? अथवा कोई नियत संख्या मानी जानी चाहिए?

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥२७॥

[लिङ्गदर्शनात्] ज्ञापक हेतु के देखे जाने से [दशत्वम्] दश संख्या का होना निश्चित है।

ज्योतिष्टोम के विकृतियाग वाजपेय में दसवें दिन 'दशपेय' कर्म का अनुष्ठान होता है। उस प्रसंग का वचन है—‘दश चमसाध्वर्यवः। दश दश एकेऽनं चमसमनु-सर्पनित’—‘चमसाध्वर्यु दस होते हैं। एक चमस का सोमरस पीने के लिए प्रत्येक

१. तुलना करें—‘दशदशैकैकं चमसमनुसृता भवति तस्माद्वेष दशपेयः’, शार्त-

ब्रा० ४।४।५।३॥

चमस के साथ दस-दस एक-दूसरे के पीछे पंक्ति बाँधकर चलते हैं'। ज्योतिष्ठोम में दस चमस कहे हैं (सूत्र २५)। होम के अनन्तर सोमरस-भरे एक चमस को चमसाध्वर्यु लेकर पीने के निर्दिष्ट स्थान की ओर चलता है; नौ अन्य उसके पीछे एक पंक्ति में चलते हैं। इस प्रकार दस चमसाध्वर्यु कर्मकरों के ये दश वर्ग हैं। सब मिलकर इनकी संख्या सौ हो जाती है। कर्म का 'दशपेय' नाम चमसाध्वर्यु कर्मकरों की दस संख्या को नियत करता है, क्योंकि इसमें दस-दस के दस वर्ग सोमरस का पान करते हैं—'दशभिः पेयः सोमो यत्र स दशपेयः'। उसी प्रसंग में अन्य वाक्य है—'शतं ब्राह्मणाः सोमं भक्षयन्ति' सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करते हैं। दस-दस के दस वर्ग मानकर सौ संख्या का कठन भी उपपन्न होता है।

बहुत्व की प्रथम प्राप्त तीन संख्या को लाँघकर आगे बढ़ने तथा किसी नियत संख्या पर रुकने के लिए कोई कारण होना चाहिए। उक्त वाक्य ही इस अर्थ के बोधक हैं कि तीन को लाँघकर बहुत्व की खोज में दस पर रुक जाती है; न आगे बढ़ती है, न पहले रुकती है। इसलिए चमसाध्वर्यु कर्मकरों की दस संख्या नियत है॥२७॥ (इति चमसाध्वर्यूणां दशसंख्यानियमाधिकरणम्—१२)।

(शमितुरपृथ्यवत्वाधिकरणम्—१३)

ऋत्विक्-वरण के अनन्तर ज्योतिष्ठोम प्रकरण में पाठ है—'शमितारमुष-नयति'—शान्त करनेवाले को लाता है। इसमें सन्देह है—वया वह शमिता प्रथम वरण किये ऋत्विजों में से ही कोई एक होता है? अथवा उनसे भिन्न कोई व्यक्ति होता है? प्रतीत होता है, वह ऋत्विजों से भिन्न होना चाहिए; क्योंकि 'शमिता' शब्द से वहाँ किसी का वरण नहीं किया गया। इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वप्रकरण में प्रस्तुत किया—

शमिता च शब्दभेदात् ॥२८॥

[शमिता] शमिता नाम से व्यवहृत व्यक्ति [च] भी चमसाध्वर्यु के समान पूर्वनिर्दिष्ट १६ ऋत्विजों से भिन्न होता है, [शब्दभेदात्] शमिता शब्दभेद के कारण।

ऋत्विजों के वरणप्रसंग में जैसे 'होतारं बृणीते, ब्रह्मणं बृणीते' वाक्य कहे हैं, वहाँ किसी भी ऋत्विक् के लिए 'शमिता' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम वरण किये गये ऋत्विजों से—शमिता शब्द से व्यवहृत व्यक्ति उक्त सोलह ऋत्विजों से भिन्न होता है, ठीक वैसे ही जैसे अधिकरण १० में चमसाध्वर्यु को १६ ऋत्विजों से पृथक् बताया गया है॥२८॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वप्रकरण का समाधान किया—

प्रकरणाद्वैतपत्त्यसंयोगात् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त अर्थ की व्यावृत्ति का द्योतक है। तात्पर्य है, शमिता नाम से व्यवहृत व्यक्ति पूर्वपरिगणित १६ कृत्विजों से पृथक् न होकर उन्हीं में से कोई एक होता है, [प्रकरणात्] प्रकरण से, अर्थात् उसी प्रकरण में 'शमितारमुपनयति' वाक्य के पठित होने से [उत्पत्त्यसंयोगात्] १६ कृत्विजों के वरणविद्यायक वचनों में 'शमितारं वृणीते' ऐसे वचन का सम्बन्ध न होने से।

जैसे १६ कृत्विक् परस्पर एक-दूसरे से पृथक् हैं, उनमें से प्रत्येक का नाम लेकर वरणविद्यायक वचन कहे हैं—'होतारं वृणीते' इत्यादि, यदि शमिता इन सबसे पृथक् होता, तो उसका भी नाम लेकर—अन्य वचनों के समान—'शमितारं वृणीते' वचन कहा गया होता। ऐसा पृथक् वचन न होने से ज्ञात होता है, शमिता नाम से व्यवहृत व्यक्ति इन्हीं कृत्विजों में से कोई एक नियुक्त कर दिया जाता है।

'शमिता' पद का अर्थ है—शान्ति का व्यवस्थापक। याग के ऐसे अवसर पर सामाजिक व्यवस्था के अनुसार पशुओं के स्वास्थ्य आदि की जाँच-पड़ताल के लिए शमिता साथ रहते थे। पशुओं के स्वामी भी उनके साथ रहते थे। वे पशु इधर-उधर दौड़-पांगकरण-बड़न मचाएं, शान्तिपूर्वक अपने निर्दिष्ट स्थान में रहें, इस व्यवस्था के लिए परिगणित कृत्विजों में से ही कोई एक कृत्विक् नियुक्त कर दिया जाता था, जो पशुओं के स्वामियों को निर्देश देकर सबको व्यावस्थित रखता था। इस शान्तिव्यवस्था का निर्देशक होने के कारण उसे 'शमिता' इस विशिष्ट नाम से व्यवहृत किया जाता था। उसका यह नाम उत्तर विशिष्ट कार्य के आधार पर था। यह व्यक्ति अध्वर्यु के सहयोगी कृत्विजों में से कोई एक होता था।

जबरस्वामी आदि सभी प्राचीन व्याख्याकारों ने 'शमिता' पद का अर्थ 'पञ्च का वध करनेवाला' किया है। यह अर्थ किस आधार पर किया गया है? समझ नहीं जा सका। पद के प्रकृति-प्रत्यय के आधार पर ऐसा अर्थ सर्वथा असंगत है। 'शम्' धातु 'वध करने' अर्थ में कहीं नहीं है। अपना मनमाना अर्थ कोई भी चाहे जो करता रहे। जब कोई व्यक्ति अपनी स्वाभाविक मौत से मर जाता है, तो औपचारिक रूप में साधारणतया ऐसा व्यवहार होता देखा जाता है कि 'वह शान्त हो गया' अथवा वह सदा के लिए शान्त हो गया; पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि 'शम्' धातु का अर्थ 'वध करना' है। स्वाभाविक मृत्यु से मरना और वध करना, परस्पर नितान्त भिन्न हैं।

शवर स्वामी आदि व्याख्याकारों ने जो—पशु को मारना, उसके अङ्ग-अङ्ग टुकड़े काटना, उनका सब कृत्विक् ब्राह्मणों के लिए उनके स्तर के अनुसार बाँटना आदि के रूप में—पावन यज्ञमण्डप को बुचड़ाना बना डाला है, उसपर एक

वर्तमान विद्वान् के विचार मननीय हैं—

“उक्त (यज्ञ में आमिष-प्रयोग विषयक—ले०) विचार यज्ञ में पश्वालम्भ के आरम्भ होने के उत्तरकाल का है। पुराकाल में जब पर्यग्निकरण के अनन्तर पशुमात्र का उत्सर्ग हो जाता था, तब न पशु के भाग होते थे, और न कौन-सा भाग किसका हो, इस विचार की आवश्यकता थी, और न ‘शमिता ऋत्विजों में से अन्यतम होवे अथवा पृथक्’ यह विचार ही उपपत्ति होता था। सम्प्रति उपलभ्यमान शास्त्राएँ एवं ब्राह्मणग्रन्थ प्रोक्तग्रन्थ हैं। अतएव इनमें प्राचीन काल की व्यवस्था की भी क्वचिदुपलब्धि हो जाती है और नवीन व्यवस्था का तो ये व्याख्यान करते ही हैं। मन्त्र-संहितागत यज्ञ आधिदैविक यज्ञ हैं। उनमें सृष्टियज्ञान्तर्गत होनेवाले देवयज्ञों के साथ आसुर पशुयज्ञों का भी वर्णन है। वह आधिदैविक पशुयग के निदर्शनार्थ है। नाटकस्थानीय यज्ञकर्म में पशुवध उसी प्रकार से वर्जित है, जैसे नाटकों में मारना-काटना वर्जित है। इसलिए यज्ञों में पशुओं का पर्यग्निकरण के पश्चात् उत्सर्ग ही प्राचीनकाल में होता था। कर्म की पूर्ति ‘यदेवत्यः पशुः तदेवत्यः पुरोडाशः’ नियम से पुरोडाश के द्वारा की जाती थी।”

[यु० मी०]

मध्यकालिक व्याख्याकारों की व्याख्याओं को एक ओर रख ‘शमिता’ पद का जो अर्थ हमने समझा और प्रसंग के अनुसार यहाँ प्रस्तुत किया है, उसको व्याख्यान में रखते हुए ‘शमिता’ पद से व्यवहृत व्यक्ति—परिगणित ऋत्विजों में से अव्वर्यु का सहयोगी कोई एक ऋत्विक् होता था, इनसे पृथक् नहीं ॥२६॥ (इति शमितुरपृथक्त्वाधिकरणम्—१३)।

(उपगाऽपृथक्त्वाधिकरणम्—१४)

ज्योतिष्ठोम में ‘उपगा’ नामक कर्मकर कहे हैं। ‘उपगावन्ति इति उपगा:—उद्गाता आदि के द्वारा सामग्रान करते समय जो अन्तिम स्थिर पदों के साथ ‘ही’ ध्वनि उच्च स्वर में करते हुए गान में सहयोग देते हैं, वे ‘उपगा’ कहाते हैं। उनके विषय में सन्देह है—क्या वे परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही कोई होते हैं? अथवा उनसे भिन्न हैं?

शमिता के समान उपगा कर्मकर भी परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही होते हैं। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तरूप में प्रस्तुत किया—

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥३०॥

[उपगा:] उपगा-संज्ञक कर्मकर [च] भी परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही होते हैं, [लिङ्गदर्शनात्] उनका जापक हेतु देखे जाने से।

तीतिरीय संहिता [६।३।१५] में कहा है—‘नाव्वर्युरुपगायेत्’ अव्वर्यु

उपगान न करे। यहाँ उपगान के लिए अध्वर्यु का निषेध है। इसका तात्पर्य है, अध्वर्यु को छोड़कर अन्य कोई ऋत्विक् उपगान करे। यदि किसी भी ऋत्विक् द्वारा उपगान करना अभीष्ट न होता, तो शास्त्र 'नाध्वर्युरुपगायेत्' के स्थान पर 'नृत्विगुपगायेत्' कहता। अध्वर्यु द्वारा उपगान का निषेध इस अर्थ का बोध कराता है कि अध्वर्यु से अतिरिक्त अन्य कोई ऋत्विक् उपगान करे। मुख्य सामग्रान करनेवाले ऋत्विक् के साथ स्वर में स्वर मिलाकर जो अन्तिम पदों को 'हो' व्यनि के साथ उच्च स्वर में गाया जाता है, यह उपगान है। उपगान करनेवाले मुख्य सप्तग्रायक के पिछलांगू समझने चाहिए। वे मुख्य गायक के सहयोगी ऋत्विक् ही होते हैं, बाहरी भिन्न व्यक्ति नहीं ॥३०॥ (इति उपगाऽपृथक्त्वाऽविकरणम्—१४) ।

(सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाऽविकरणम्—१५)

ज्योतिष्ठोम के ऋत्विक्-बरण-प्रसंग के साथ सोम-विक्रेता का कथन है। इसमें सन्देह है—क्या सोमविक्रेता प्रथम परिगणित सोलह ऋत्विजों में से ही कोई होता है? अथवा उनसे भिन्न? ऋत्विजों के सानिध्य में सोमविक्रेता का संकीर्तन होने से प्रतीत होता है, ऋत्विजों में से ही कोई एक होता हो।

इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

विक्रयी त्वत्वः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥३१॥

[विक्री] सोम का विक्रय करनेवाला [तु] तो [अन्यः] अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न होता है, [कर्मणः] विक्रयरूप कर्म के [अचोदितत्वात्] विहित न होने से ।

सोम का बेचनेवाला व्यक्ति ऋत्विजों में से कोई न होकर अन्य व्यक्ति ही होता है। कारण यह है कि ज्योतिष्ठोम के सम्बन्ध में सोम के विक्रय का कहीं विवाद नहीं किया गया। इसके विपरीत क्रय (=खरीदने) का विवाद है। इसलिए क्रय ज्योतिष्ठोम का अङ्ग है। विक्रय ज्योतिष्ठोम का अङ्ग नहीं है। क्रय का विवाद होने पर विक्रय अर्थात् ये जाना जाता है। क्योंकि क्रय, विक्रय के बिना नहीं हो सकता। ज्योतिष्ठोम में अपेक्षित कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का परिक्रम एवं बरण किया जाता है। विक्रय क्योंकि ज्योतिष्ठोम का अङ्ग नहीं है, अतः ज्योतिष्ठोम के लिए परिक्रीत ऋत्विक् विक्रय-कर्म को नहीं कर सकेगा। प्रतः सोम का बेचनेवाला व्यक्ति अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न ही होगा ॥३१॥ (इति सोमविक्रेतुः पृथक्त्वाऽविकरणम्—१५) ।

(ऋत्विग्गति नामोऽसर्वगामिताऽधिकरणम्—१६)

ज्योतिष्ठोम-कर्मकर रूप से जो पुरुष मुने जाते हैं, उनके विषय में सन्देह है—क्या वे सब पुरुष ऋत्विक् नाम से व्यवहृत किये जाते हैं? अथवा कतिपय सीमित पुरुषों के लिए ही इस नाम का व्यवहार होता है? शिष्य मुझाव देता है—वे सभी पुरुष ज्योतिष्ठोम-सम्बन्धी कार्य करनेवाले होते हैं, इसलिए ऋत्विक् नाम से पुकारे जाने चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-मुझाव को पूर्वपक्षरूप में सूचित किया—

कर्मकार्यात् सर्वेषाम् ऋत्विकत्वमविशेषात् ॥३२॥

[कर्मकार्यात्] कर्मं करनेवाला होने—हेतु से [सर्वेषाम्] सब कर्मकरों का [ऋत्विकत्वम्] ऋत्विक् होना उचित है, [अविशेषात्] अविशेष=समानरूप से कर्मकर होने के कारण।

ज्योतिष्ठोम अनुष्ठान की सम्पन्नता के लिए कार्य करनेवाले सभी कर्मकरों के लिए 'ऋत्विक्' पद का प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि सभी व्यक्ति याग को सम्पन्न करने की भावना से मिलकर समान रूप में कार्य करते हैं। ऐसे विशेष विघ्नान का कहीं उल्लेख नहीं है कि कतिपय कार्यकर्ताओं को ऋत्विक् नाम से कहा जाय, शेष को न कहा जाय। 'ऋत्विक्' पद का निर्वचनमूलक अर्थ ही यह है कि ऋतु=समय के प्राप्त होने पर सभी मिलकर यजन करते हैं। 'सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञत्रयोः सप्तदश ऋत्विजो भवन्ति'—'सोमसम्बन्धी यज्ञ के १७ ऋत्विक् होते हैं' इत्यादि वाक्य ऐकवेशिक है। पूरे समुदाय के एक देश को ऐकदेशक कहते हैं। समुदाय के एकदेश से पूरे समुदाय का कथन व्यवहार-विरुद्ध नहीं माना जाता।

आचार्य पाणिनि [३।२।५६] ने ऋत्विक् पद का साधुत्व निपातन पद्धति से दर्शाया है। उसका व्याग रखते हुए व्याख्याकारों ने 'ऋत्विक्' पद का अर्थ करते हुए लिखा है—समय उपस्थित होने पर यजन करता है; समय को प्राप्त कर यजन करता है; समय से प्रेरित होकर यजन करता है; दक्षिणा की प्राप्ति के लिए यज्ञ करता है। ऋत्विक् पद के इन निर्वचनमूलक अर्थों से जाना जाता है कि यज्ञ में कार्य करनेवाले सभी व्यक्तियों के लिए इस पद का प्रयोग किये जाने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। ॥३२॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निषेध करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

न वा परिसंख्यानात् ॥३३॥

[न वा] ज्योतिष्ठोम में सभी कर्मकर ऋत्विक् नहीं हैं, [परिसंख्यात्] नियत गणना होने से।

वैदिक वाङ्मय में क्रृत्विजों की संख्या नियत परिगणित की गई है। वाक्य है—‘सौम्यस्य अध्वरस्य यज्ञकर्तोः सप्तदश क्रृत्विजो भवन्ति’ सोमसम्बन्धी हिंसा-रहित यज्ञकर्तु के सत्रह क्रृत्विक् होते हैं। क्रृत्विजों की नियत संख्या का यह स्पष्ट निर्देश है। क्रृत्विक् पद के निर्वचन के आधार पर बहुत-से व्यक्तियों की क्रृत्विक् संज्ञा प्राप्त होने के कारण यह विविध नहीं है। अनुवाद भी नहीं है, क्योंकि अनुवाद विविधिविहित अर्थ का ही होता है, यदि उससे कोई प्रयोजन निष्ठ होता हो। ऐसी दशा में यदि इसको गणना का बोधक न माना जाय, तो यह वाक्य अनर्थक हो जायगा। ऐसी दशा में क्रृत्विक् पद का बहुत-से पुरुषों के साथ सम्बन्ध प्राप्त होने पर उक्त वाक्य नियत सत्रह संख्या का सम्बन्ध पुरुषों के साथ बोधित करता है। उससे अधिक संख्या का प्रतिषेध विवक्षित है। इस कारण ज्योतिष्ठोम से सम्बद्ध सब कर्मकर ‘क्रृत्विक्’ पद से व्यवहृत नहीं किये जा सकते ॥३३॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—‘सौम्यसाध्वरस्य’ वाक्य में समुदाय का कथन समुदाय के एकदेश द्वारा किया गया है। तात्पर्य है—क्रृत्विक् तो सभी कर्मकार हैं, उक्त वाक्य में उनके एकदेश सत्रह से सबका कथन हुआ है। इस प्रक्रिया को मीमांसा-परिभाषा में ‘अवयुत्यवाद’ कहते हैं। ऐसी दशा में केवल सत्रह पुरुषों की क्रृत्विक् संज्ञा कैसे मानी जाय?

आचार्य सूत्रकार ने शिष्यजिज्ञासा को पूर्वपक्षरूप में सूचित किया—

पक्षेणेति चेत् ॥३४॥

[पक्षेण] अवयुत्यवाद पक्ष से उक्त वाक्य में सत्रह संख्या कही गई है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो, तो (यह ठीक नहीं, अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

‘सौम्यस्याध्वरस्य’ वाक्य के आधार पर गत सूत्र के भाव्य में जो सत्रह पुरुषों के नाथ क्रृत्विक् पद का सम्बन्ध जोड़ा गया है, वह अवयुत्यवाद पक्ष के अनुसार कथन है। वह समुदाय का कथन समुदाय के एकदेश द्वारा किया गया है। इसलिए केवल सत्रह पुरुष क्रृत्विक् न माने जाकर सभी कर्मकरों के लिए ‘क्रृत्विक्’ पद का प्रयोग समानरूप से किया जाना चाहिए ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का निरास करते हुए सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

न सर्वेषामनधिकारः ॥३५॥

[न] अवयुत्यवाद पक्ष यहाँ लागू नहीं होता, इसलिए [सर्वेषाम्] ज्योतिष्ठोम में लगे सभी पुरुषों का ‘क्रृत्विक्’ पद द्वारा व्यवहार किये जाने का [अनधिकारः] अधिकार नहीं है।

अवगुत्यवाद वहाँ लागू होता है, जहाँ समान विषय में अन्य अधिक बड़ी संख्या कही गई हो। जैसे तैत्तिरीय संहिता [२।२।५] में पाठ है—‘वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्विपेत् पुत्रे जाते, यदष्टाकपालो भवति गायश्चैवैतं ब्रह्मवच्चसेन पुनाति, यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिन् तेजो दधाति, यदशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नात्म दधाति, यदेकादशकपालस्त्रिष्टुभैवास्मिन्निद्रियं दधाति, यद् द्वादशकपालो जगत्यैवास्मिन् पश्नु दधाति।’ यहाँ पुत्र उत्पन्न होने पर वैश्वानर देवतावाले द्वादशकपाल के निर्णय का कथन है। बड़ी संख्या द्वादश श्रुत है। उसी के अन्तर्गत विषयमान अन्य अष्टाकपाल, नवकपाल, दशकपाल, एकादशकपाल संख्याओं का पृथक् निर्देश करके फलविशेष का कथन किया गया है। यह अवगुत्यवाद के अनुसार है। एकदेशभूत अष्टाकपाल आदि संख्याओं से द्वादशकपाल संकेतित होता है, क्योंकि छोटी संख्या उससे पृथक् करके फलविशेष के लिए कही गई है। परन्तु इस वैश्वानर इष्ट के समान ज्योतिष्टोम में समस्त कर्मकर्तों के लिए ऋत्विक् पद का व्यवहार बतानेवाला कोई अन्य वाक्य उपलब्ध नहीं है। यह इसमें उक्त इष्ट से वैपरीत्य है। यदि ज्योतिष्टोम में ‘सब कर्मकर ऋत्विक्-पद-वाच्य हैं’ ऐसी कोई बड़ी संख्या निरिष्ट की गई होती, तो उसके अन्तर्गत सत्रह संख्या को मानकर अवगुत्यवाद को यहाँ लागू किया जा सकता था, जिसके अनुसार यह कहा जाता कि ‘सप्तदश ऋत्विजः’ उस बड़ी संख्या से पृथक् कर दिखाया गया है, और उस एकदेश से यह समुदाय का कथन है। पर कहीं भी ऐसा उल्लेख न होने के कारण अगुत्यवाद ‘सप्तदश ऋत्विजः’ में लागू नहीं होता। फलतः ज्योतिष्टोमीय वर्धवर्य आदि सत्रह पुरुषों के साथ ही ऋत्विक् संज्ञा का सम्बन्ध सिद्ध होता है ॥३५॥ (इति ऋत्विगिति नामोऽसर्वगमिताऽधिकरणम्—१६)।

(दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशत्विक्त्वा-
अधिकरणम्—१७)

शिष्य जिज्ञासा करता है—ऋत्विक् सत्रह होते हैं, यह तो निश्चित हुआ; पर वे सत्रह कौन-कौन हैं? यह नहीं जाना।

आज्ञायं सूत्रकार ने बताया—

नियमस्तु दक्षिणामिः श्रुतिसंयोगात् ॥३६॥

[तु] ‘तु’ पद आनेयम की व्यादृति का व्योतक है। [दक्षिणामिः] दक्षिणाओं से [नियमः] नियम जाना जाता है, [श्रुतिसंयोगात्] श्रुति = दक्षिण-वाक्य में ऋत्विक् पद का सम्बन्ध होने से।

ज्योतिष्टोमीय नियत सत्रह पुरुषों के लिए ही ऋत्विक् पद का प्रयोग होता

है, यह दक्षिणा-वाक्य से जाना जाता है। वाक्य प्रारम्भ होता है—‘ऋत्विग्म्यो दक्षिणां ददाति’ ऋत्विजों को दक्षिणा देता है। ऐसा कहकर दक्षिणादान के क्रम-परक वाक्य में ब्रह्मा आदि का उल्लेख है। आगे वाक्य है—‘अग्नीष्मेऽये दक्षिणां ददाति’ प्रथम अग्नीत् को दक्षिणा देता है। ‘ततो ब्रह्मणे’ उसके अनन्तर ब्रह्मा को दक्षिणा देता है। आगे विशिष्ट व्यक्तियों को—उनके ज्योतिष्ठोमीय अध्वर्यु आदि नियत नाम-निर्देशपूर्वक दक्षिणा दिये जाने का उल्लेख है। नाम-निर्देशपूर्वक दक्षिणादान का यह प्रसंग ‘ऋत्विग्म्यो दक्षिणां ददाति’ कहकर प्रारम्भ किया गया है। इससे यह निश्चय होता है कि जिन ब्रह्मा, अध्वर्यु आदि को दक्षिणा दी जाती हैं, वे विशिष्ट सत्रह पुरुष ही ऋत्विक् पद से व्यवहृत किये जाते हैं ॥३६॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने बताया—

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥३७॥

[च] और ‘ये ऋत्विजस्ते यजमानः’—‘जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं’ इस प्रकार उनका [यजमानत्वम्] यजमान होना [उक्त्वा] कहकर [तेषाम्] उनकी [दीक्षाविधानात्] दीक्षा का विधान होने से ऋत्विजों की सत्रह नियत संख्या जानी जाती है।

सम्बन्ध तक चलनेवाले ‘सत्र’ नामक यज्ञों के विषय में व्यवस्था है—‘ये ऋत्विजस्ते यजमानाः’—‘ऐसे सत्र में जो ऋत्विक् हैं वे यजमान हैं’ यह कहकर ब्रह्मा आदि की दीक्षा का वाक्यों द्वारा क्रमशः उल्लेख किया गया है—‘अध्वर्युं गृहपति वो दीक्षित कर ब्रह्मा को दीक्षित करता है’। ‘तत उद्गातारं ततो होतारम्’—‘उसके अनन्तर उद्गाता को औरफिर होता को दीक्षित करता है’। ‘ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वा अर्घिनो’ दीक्षयति, ब्राह्मणाच्छ्रुतिं ब्रह्मणः, प्रस्तोतारमुद्गातुः, मंत्रावरुणं होतुः’—‘उसके अनन्तर प्रतिप्रस्थाता अध्वर्यु को दीक्षित करके अर्घियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के ब्राह्मणाच्छ्रुति को, उद्गाता के प्रस्तोता को, होता के मंत्रावरुण को’। ‘ततस्तं नेष्टा दीक्षयित्वा तृतीयिनो दीक्षयति अग्नीष्मं ब्रह्मणः, प्रतिहतरमुद्गातुः, अच्छावाकं होतुः’—‘उसके अनन्तर नेष्टा प्रतिप्रस्थाता को दीक्षित कर तृतीयियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के अग्नीत् को, उद्गाता के प्रतिहत्तरि को, होता के अच्छावाक को’। ‘ततस्तमुन्नेता दीक्षयित्वा पादिनो दीक्षयति—पोतारं ब्रह्मणः, सुत्रब्रह्ममुद्गातुः, ग्रावस्तुतं होतुः’—‘उसके पश्चात् उन्नेता नेष्टा को दीक्षित कर

१. यहाँ ब्राह्मण-पठित सन्दर्भ में आये ‘अर्घिनः, तृतीयिनः, पादिनः’ पदों की व्याख्या चालू पाद (७) के सूत्र २२ के माध्यम तथा टिप्पणी में द्रष्टव्य है।

पादियों को दीक्षित करता है—ब्रह्मा के पोता को, उद्गाता के पुत्राध्य को, होता के ग्रावस्तुत् को। 'ततस्तमन्यो ब्राह्मणो दीक्षयति ब्रह्मचारी वाचार्यप्रेषितः'—'उसके अनन्तर कोई अन्य ब्राह्मण अथवा आचार्य द्वारा भेजा गया ब्रह्मचारी उन्नेता को दीक्षित करता है'।

ऐसे सत्रों में जब गृहपति यजमान द्वारा ऋत्विजों का परिक्रम्य व वरण नहीं होता, तब सब मिलकर सत्रकर्म का अनुष्ठान करते हैं, तब वहाँ सभी यजमान और सभी ऋत्विक् होते हैं। इसी भावना से 'ये ऋत्विजस्ते यजमानः' कहा गया है। प्रस्तुत प्रसंग में उन सबको कर्मानुष्ठान के लिए दीक्षित किये जाने का निर्देश है। वहाँ मिलकर सबकी संस्था सत्रह होती है। यहाँ सबके नाम लेकर दीक्षित किये जाने से यह स्पष्ट होता है कि ऋत्विक्-पदवाच्य व सत्रह विशिष्ट पुरुष ब्रह्मा-अव्यर्थ आदि ही हैं। इनमें सोलह ऋत्विक् और एक गृहपति यजमान है। यह सब प्रक्रिया यजमान का संस्कार माना जाता है। इस प्रकार दक्षिणा और दीक्षा-बाक्यों के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि वे ऋत्विक्-पदवाच्य सत्रह पुरुष कौन-से हैं ॥३७॥ (इति दीक्षादक्षिणावाक्योक्तानामेव ब्रह्मादीनां सप्तदशऋत्विक्त्वाऽधिकरणम्—१७)।

(ऋत्विजां स्वामिसप्तदशत्वाधिकरणम्—१८)

ऋत्विक् सत्रह होते हैं, और वे ब्रह्मा आदि हैं, यह जाना गया। इसमें सन्देह है—सोलह ऋत्विजों से अतिरिक्त सत्रहवाँ पुरुष क्या कोई सदस्य होता है? अथवा गृहपति यजमान ही सत्रहवाँ ऋत्विक् माना गया है? क्या होना चाहिए? गृहपति यजमान का परिक्रम्य व वरण नहीं होता। ऋत्विजों का परिक्रम्य व वरण होता है। सदस्य कर्मकर है, वह परिक्रम्य के योग्य है। इसके अतिरिक्त चमस्वालों की गणना में सदस्य भी गिना गया है—'प्रैतु' होतुश्चमसः प्र ब्रह्मणः... प्र यन्तु सदस्यानाम्' [कात्या० श्रो० ६।१।३]। चमस ऋत्विक् का हो सकता है, इसलिए सत्रहवाँ ऋत्विक् सदस्य होना चाहिए।

ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूक्तकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

स्वामिसप्तदशाः कर्मसाभान्यात् ॥३८॥

[स्वामिसप्तदशाः] सत्रह ऋत्विक् स्वामी के सहित होते हैं। तात्पर्य है—ऋत्विजों में सत्रहवाँ स्वामी—यजमान होता है [कर्मसाभान्यात्] कर्म के सामान्य

१. यह प्रसंग मीमांसा दर्शन [३।५] के अनेक अधिकरणों [अधि० ७, सूत्र १२; अधि० ८, सूत्र २३; अधि० १३, सूत्र ३३] में चर्चित हुआ है। वहाँ देख लेना चाहिए।

होने से ।

यज्ञानुष्ठान के अवसर पर ऋत्विक् जिस प्रकार कर्म बारते हैं, यजमान भी उसी प्रकार कर्म करता है । दोनों के लिए कर्मानुष्ठान समान होने से सबहवाँ ऋत्विक् यजमान होता है ।

सदस्य के विषय में यह जो कहा कि वह परिक्रम तथा वरण के बोग्य है, और चमसवालों में उसकी मणना की गई है, इसलिए सबहवाँ ऋत्विक् सदस्य रामभन्न चाहिए,—यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि सदस्य के परिक्रम तथा वरण का कहीं कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता । चमसवालों में जो सदस्य का उल्लेख है, वही ब्रह्मा, होता आदि ऋत्विजों को ही सदस्य पद से कहा गया है । सोमभक्षण के लिए इनके चमस ही सदः स्थान में लेन्जाये जाते हैं, अतः बहुबचनाभूत 'सदस्यानाम्' पद से—कथन के उपसंहार-रूप में—इन्हींका उल्लेख हुआ है, अन्य किसी सदस्य पुरुष का नहीं ।

अन्य सदस्य को कृत-अकृत कार्यों का पर्यवेक्षण करनेवाला बताया गया है । आपस्तम्भ श्रीतस्त्रूत [११२] में उसे 'कर्मणामुपद्रष्टा' कहा है—कार्यों का निरीक्षण करनेवाला । जिस प्रकार चालू पाद के पन्द्रहवें अधिकरण में सोम-विक्री को—विक्रमरूप कर्म के ज्योतिष्टोम का अङ्ग न होने के कारण—ऋत्विजों से पृथक् कहा है, और तीन अधिकरणों [१०, १३, १४] में चमसाध्वर्युओं, शामिता एवं उपगाताओं का वरण-प्रसंग में अवण न होने के कारण इन्हें भी ऋत्विजों से पृथक् बताया है, इसी प्रकार कार्य-अकार्य का द्रष्टामात्र होने से सदस्य को ज्योतिष्टोम का अङ्ग नहीं माना गया । इसलिए सोलह—ब्रह्मा, अर्धवर्यु होता, उद्गता और प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी—पुरुषों के साथ सदस्यात् में उपस्थित चमसोंवाला सबहवाँ पुरुष सदस्य नहीं हो सकता । उक्त सोलह के साथ सदस्यान में यजमान उपस्थित रहता है, अतः वही सबहवाँ ऋत्विक् माना जाता है । इस प्रकार यजमान-सहित सप्तदश ऋत्विजों की संख्या शास्त्र में बताई गई है । ऐसी मान्यता केवल सब्यागों में होती है ॥३८॥ (इति ऋत्विजां स्वामि-सप्तदशत्वाधिकरणम्—१८) ।

(आध्वर्यवादिष्वेवाध्वर्यदीनां कर्तृतानियमाधिकरणम्—१९)

ज्योतिष्टोम में कार्य करनेवाले यजमानसहित सबह पुरुष ऋत्विक् माने गये । इनके विषय में बब यह सन्देह है—क्या जो पुरुष का कार्य है, एवं आहवनीय आदि अग्नियों से जो कार्य किया जाता है, वह सब इनको करना चाहिए ? अथवा कार्य करने में कुछ व्यवस्था है ? अर्थात् यह कार्य बासुक करे, यह अमुक, और यह कार्य इस अग्नि में किया जाय, वह उस अग्नि में,—ऐसी व्यवस्था है ? प्रतीत होता है, सब ऋत्विक् कार्य करने के लिए हैं । अग्नियों का आधान भी

यामानुष्ठान के लिए किया जाता है, तब सभी अग्नियों में सब कार्य किये जाने चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इस विचार को पूर्वपक्ष रूप में प्रस्तुत किया—

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥३६॥

[ते] वे ऋत्विक् [सर्वार्थाः] यागसम्बन्धी सभी कार्यों के करने के लिए हैं, [प्रयुक्तत्वात्] परिक्रय एवं वरण के द्वारा कर्म करने के लिए नियुक्त होने के कारण, एवं [अग्नयः] अग्नियाँ [च] भी [स्वकालत्वात्] अपने समयवाली होने के कारण सभी अग्निकार्यों के लिए हैं।

परिक्रय एवं वरण किये गये ऋत्विक् कर्म-सम्बन्धी सभी कार्यों के लिए हैं। आहवनीय आदि अग्नियों का आधान भी याग-सम्बन्धी सब कार्यों के लिए किया जाता है। कर्मसम्बन्धी कार्य कर्मकर ऋत्विजों के बिना, एवं अग्निसम्बन्धी कार्य अग्नि-आधान के बिना नहीं हो सकते। ये कार्य उनकी आकांक्षा रखते हैं। इसलिए ऋत्विजों का परिक्रय व वरण तथा अग्नियों का आधान सभी कार्यों के सम्पादन के लिए माना जाना चाहिए। भीमांसा सूत्र [३।६।१५] में अग्नियों की सर्वार्थता का सिद्धान्त निश्चित किया है। जिस समय जो कार्य अग्निसम्बन्धी अपेक्षित हो, किसी भी अग्नि पर सम्पन्न कर लेना चाहिए। इसी प्रकार कर्म-नुष्ठान-सम्बन्धी जो कार्य सामने उपस्थित हो, उसे सम्पादन करने में कोई भी कार्यान्तर में असंलग्न ऋत्विक् लग जाय। इसमें व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं है। जो कार्य जिसे दीखे, वह उसे कर डाले। इससे सब कार्य यथावस्थित हो जाता है। ॥३६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्थार्थ- वत्वात् ॥४०॥

[तत्संयोगात्] कर्मों का अध्वर्यु आदि नामों के द्वारा विशिष्ट पुरुषों के साथ सम्बन्ध होने से [कर्मणः] कर्म की [व्यवस्था] अमुक कर्म उसको करना चाहिए, अमुक उसको, इस प्रकार की व्यवस्था [स्यात्] है, [संयोगस्थ] नाम के द्वारा कर्म का पुरुषविशेष के साथ सम्बन्ध के [अर्थवत्वात्] अर्थवान् होने के कारण।

शास्त्र में आध्वर्यव, औद्योग्य, हौत्र आदि कर्मों के नाम हैं। इसलिए जिस नाम के ऋत्विक् का जिस कर्म के साथ सम्बन्ध निर्दिष्ट है, वह कर्म उस ऋत्विक् को करना चाहिए। इस प्रकार आध्वर्यव कर्म अध्वर्यु को करना चाहिए, हौत्र कर्म होता को और औद्योग्य उद्योगता को। यह विशिष्ट पुरुष द्वारा विशिष्ट कर्म

करने की व्यवस्था है। ऐसा नहीं है कि चाहे कोई पुरुष चाहे जिस कर्म को करे। इस प्रकार आचर्यव आदि कर्मों का अचर्यु आदि विशिष्ट पुरुषों के साथ सम्बन्ध अर्थात् होता है। यदि ऐसी व्यवस्था न मानी जाय, तो यह सम्बन्ध का निर्देश निरर्थक हो जायगा।

पूर्वपक्ष-सूत्र में वादी ने कृत्वजौं की सर्वार्थिता के लिए जो अभिन्नों की सर्वार्थिता [द३० मी० सू० ३।४।१५] का उदाहरण दिया है, वह 'वादी भद्रं न पश्यति' कहावत के अनुसार आंशिक एकवेशी है, केवल 'सर्वार्थ' इस शब्दमात्र की समानता को लेकर दृष्टान्त दे दिया है। अभिन्नों की सर्वार्थिता का स्वरूप है—जो कर्मसम्बन्धी कार्य जिस अभिन्न में किया जाता है उसके प्रकृतिरूप अथवा विकृति-रूप सभी कर्मों का सम्पादन उस अभिन्न में किया जाना चाहिए। वहाँ ऐसा नहीं है कि किसी भी अभिन्न में चाहे जो कार्य किया जाय। पर यहाँ पूर्वपक्ष-सूत्र के सर्वार्थ पद का भाव यही है कि कोई भी कृत्विक् पुरुष किसी भी कार्य को करे। उसके लिए किसी व्यवस्था की आवश्यकता नहीं है। इसके विपरीत, अभिन्नों में भी कर्म-व्यवस्था देखी जाती है। कौन-सा कर्म आहवनीय में हो, कौन-सा माहूंपत्य में, कौन-सा दक्षिणामिन में, ऐसे उल्लेख शास्त्र में उपलब्ध हैं। जैसे—'आहवनीय जुहोति, माहूंपत्येऽधिश्वश्रयति, दक्षिणामनी अन्वाहार्यं पचति' इत्यादि। आहवनीय अभिन्न में हृविद्रव्य की आहुति दी जाती है; माहूंपत्य में दुर्घ आदि गरम किया जाता है; अपेक्षा होने पर जमा आज्ञ धिवलाया जाता है; दक्षिणामिन में अन्वा-हार्यं का पाक होता है। दर्श-पूर्णमास में दक्षिणारूप से चार कृत्विक् पुरुषों के भोजनयोग्य ओदन का नाम 'अन्वाहार्यं' है। इससे अभिन्नकर्मों की भी व्यवस्था स्पष्ट होती है। आहवनीय में दूध या ओदन नहीं पकाया जा सकता। गाहूंपत्य एवं दक्षिणामिन में हृविद्रव्य का होम नहीं किया जा सकता। इस प्रकार अभिन्नों में भी कर्म की व्यवस्था स्पष्ट है। फलतः कृत्वजौं की सर्वार्थिता के लिए पूर्वपक्षी द्वारा दिया गया अभिन्नों की सर्वार्थिता का दृष्टान्त पूर्णतया विषय है ॥४०॥ (इति आचर्यवादिष्वेवाच्वर्णदीनां कर्तृतातियमाविकरणम्—१६)।

(समाख्याप्राप्तकर्तृत्वस्यापि वचिद् बाधाधिकरणम्—२०)

गत अधिकरण में समाख्या—नाम के आधार पर कर्म की व्यवस्था बताई गई। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यही साधारण नियम है कि कर्म की व्यवस्था केवल नाम के आधार पर हो? अथवा अन्य भी कोई आधार है?

आचार्य सूत्रकार ने बताया, अन्य भी आधार है—

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥४१॥

[तस्य] उस कर्म का [उपदेशसमाख्यानेन] उपदेश—कथन और

समाख्यान = संज्ञा दोनों से [निर्देशः] निर्देश जानना चाहिए ।

‘उपदेशसमाख्यानेन’ पद में समाहार द्वन्द्व समाप्त है—उपदेशशब्द समाख्यानं च अनयोः समाहार इति उपदेशसमाख्यानं तेन—उपदेशसमाख्यानेन । तात्पर्य है—उपदेश और समाख्यान दोनों से कर्म की व्यवस्था का निर्देश होता है, अर्थात् कहीं उपदेश से कहीं समाख्या = नाम से । यथा उपदेश से—‘तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह’ मैत्रावरुण प्रैष देता है और अनुकरण करता है, अर्थात् पुरोऽनुवाक्या का उच्चारण करता है । ‘प्र वो वाजा अभिद्यावः’ तथा ‘अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवत्यन्तः’ ये पुरोऽनुवाक्या मन्त्र हैं, इनका उच्चारण करता है ।

‘होतर्यज, अग्नये समिध्यमानाय अनुबूहि’—‘हे होता ! यजन करो और प्रज्वलित होनेवाले अग्नि के लिए पुरोऽनुवाक्या मन्त्रों का उच्चारण करो’—इस प्रकार आदेश करने को ‘प्रैष’ कहते हैं । प्रैष कार्यं अध्वर्यु करता है । पुरोऽनुवाक्या का उच्चारण होता करता है । परन्तु उक्त वाक्य—‘तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह’—‘मैत्रावरुण कृत्विक् प्रैष दे और पुरोऽनुवाक्या का उच्चारण करे’ यह निर्देश करता है । यह उपदेश द्वारा कर्म का निर्देश है । समाख्या = नाम से कर्म के निर्देश का उदाहरण गत अधिकरण में दिया गया है । अन्य उदाहरण हैं—‘पोत्रीया-नेष्ट्रीया’ ये कर्मविशेष की समाख्या = संज्ञा हैं—पोता कृत्विक् द्वारा किया जानेवाला कर्म, तथा नेष्टा कृत्विक् द्वारा किया जानेवाला कर्म । यह पोता-नेष्टा कृत्विक् नामों से कर्म का निर्देश है । इस प्रकार उपदेश और समाख्या दोनों से कर्म का निर्देश जानना चाहिए ॥४१॥

आचार्यं सूत्रकार ने इसी अर्थ की पुष्टि में अन्य सहयोगी हेतु प्रस्तुत किया—

तद्भव लिङ्गदर्शनम् ॥४२॥

[तद्भव] समाख्या से कर्मों की व्यवस्था के समान, उस अर्थं की पुष्टि में [लिङ्गदर्शनम्] सहयोगी हेतु [च] भी देखा जाता है ।

वैदिक वाङ्मय में वाक्य मुना जाता है—‘यत्र होतुः प्रातरनुवाकमनुबूहुतः उपश्रुणुयात्’—‘होता द्वारा प्रातःकालिक मन्त्रों का पाठ करते हुए जहाँ तक मुना जाये’ इस वाक्य में प्रातरनुवाक के उच्चारण को होता द्वारा किया जानेवाला कर्म बताया है । यह समाख्या से—अर्थात् नाम लेकर कर्म की व्यवस्था बताये जाने से—कर्मव्यवस्था में लिङ्ग है । यहाँ होता का नाम लेकर प्रातरनुवाक उच्चारण करने का निर्देश है ।

इसी प्रकार अन्य वाक्य है—‘उद्गीथ उद्गातृणाम्, कृत्वः प्रणव उक्त्यर्थसिनाम्, प्रतिगरोऽध्वर्यूणाम्’—सामग्रन उद्गाताओं का, कृत्वः का प्रणव उच्चारण उक्त्यर्थसिंहों = होताओं का, प्रतिगर अध्वर्यु कृत्विजों का कर्म है । यहाँ भी नामनिर्देशपूर्वक कर्म की व्यवस्था का कथन है । अन्य भी अनेक वाक्य वैदिक

वाङ्मय में उपलब्ध हैं, जहाँ कौन-सा कर्म किस ऋत्विक् को करना चाहिए, यह सब नाम लेकर कर्म की व्यवस्था में लिङ्ग है।

प्रातःकाल पश्चिमों का कलरव प्रारम्भ होने से पहले जब होता ऋत्विक् उच्चरः स्वर से प्रातरनुवाक का पाठ करता है, उसकी ध्वनि जहाँ तक सुनाई पड़े, वहाँ तक की सीमा में वहनेवाले नदी-नालों से अध्वर्यु ऋत्विजों को जल लाना होता है। यदि नदी-नाले उच्चारण-ध्वनि की सीमा से बाहर कहीं दूर हैं, तो उस उच्चारण के अवसर से पहले ही जल लाकर किसी सभीप उपयुक्त स्थान में रख लिया जाता है। उच्चारण के समय उन जलों से अध्वर्यु जल ग्रहण करता है। इस क्रिया का नाम 'प्रतिपर' है। वाक्यों में यहाँ बहुवचन से मुख्य ऋत्विक् और उनके सहयोगी अभिप्रेत हैं। फलतः समाध्या और उपदेश दोनों से यथा-प्रसंग कर्मों की व्यवस्था जाननी चाहिए ॥४२॥ (इति समाध्याप्राप्तकर्तृत्वस्यापि क्वचिद् बाधाधिकरणम्—२०)।

(समुच्चितयोः प्रेषानुवचनयोर्मैत्रावरुणकर्तृत्वाधिकरणम्—२१)

ज्योतिष्ठोम में अग्निषोमीष पृष्ठ-आलमन के प्रसंग में पाठ है—'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह'—'इसलिए मैत्रावरुण प्रैष देता है, और अनुवचन करता है' अर्थात् पुरोऽनुवाक्या का पाठ करता है। इसमें सन्देह है—क्या सब अनुवचनों और सब प्रैषों में मैत्रावरुण कृत्विक् कर्ता होता है? अथवा जहाँ अनुवचन के विषय में प्रैष हैं, वहाँ मैत्रावरुण होता है? कोई विशेष कथन न होने से प्रैष-अनुवचन में सर्वत्र मैत्रावरुण होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने इसी वर्ष को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥४३॥

[प्रेषानुवचनम्] प्रैष और अनुवचन दोनों [मैत्रावरुणस्य] मैत्रावरुण का कर्म होने चाहिए, [उपदेशात्] उपदेश = सामान्य कथन होने के कारण।

'तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह' वाक्य में सामान्यतया कथन है कि प्रैष और पुरोऽनुवाक्या पाठ मैत्रावरुण का कर्म है। यहाँ ऐसा विशेष कथन कोई नहीं है कि अमुक प्रैष अथवा अमुक अनुवचन (=पुरोऽनुवाक्या पाठ) में मैत्रावरुण होता है, अमुक में नहीं होता। इसलिए सब प्रैष और सब अनुवचन मैत्रावरुण ऋत्विक् को करने चाहिए ॥४३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥४४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का योतक है। तात्पर्य है, सब प्रैष और अनुवचन मैत्रावरुण ऋत्विक् का कर्म है, यह कथन अमुक है, [पुरोऽनुवाक्या-

विकारः] पुरोऽनुवाक्या का अधिकार मैत्रावरुण को है, [प्रैषसम्मित्वानात्] प्रैष के सान्निध्य—सामीप्य के कारण।

जहाँ प्रैष और अनुवाक्या साथ कही जाती हैं, वहाँ मैत्रावरुण का अधिकार है। जहाँ केवल प्रैष अथवा केवल अनुवाक्या का कथन है, वहाँ मैत्रावरुण अधिकृत नहीं होता। जहाँ दोनों इकट्ठे कहे गये हों, वहाँ ये दोनों कर्म मैत्रावरुण ऋत्विक् द्वारा किये जाने चाहिए। उक्त वचन ‘तस्मान्मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह’ ऐसा ही है। यहाँ दोनों का समुच्चय है, इसलिए यहाँ दोनों मैत्रावरुण के कर्म हैं; सर्वत्र नहीं ॥४४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त अर्थ की पुष्टि में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥४५॥

[**प्रातरनुवाके**] अनुवाक्या ऋचाओं के प्रातःकालिक पाठ में [**होतृदर्शनात्**] होता का सम्बन्ध देखे जाने से [च] भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रातरनुवाक के पाठ में होता का सम्बन्ध पाया जाता है—‘होतुः प्रातरनु-वाकमनुबूततः उपशृणुयात् तदाध्वर्युगृह्णीयात्’—प्रातः पक्षियों का कलरव होने से पूर्व जब होता ऊचे स्वर में अनुवाक्या ऋचाओं का पाठ करता है, तब जहाँ तक वह शब्द सुनाई दे, उस सीमा में बहते नदी-नालों से अध्वर्यु जल ग्रहण करे। यहाँ होता द्वारा अनुवाक्या-पाठ का स्पष्ट निर्देश है। इसलिए भी मैत्रावरुण अनुवाक्या-पाठ में सर्वत्र अधिकृत नहीं होता ॥४५॥ (इति समुच्चितयोः प्रेषानुवचनयोर्मत्र-वरुणकर्तृत्वाधिकारणम्—२१)।

(चमसहोमेऽध्वर्योः कर्तृताधिकरणम्—२२)

ज्योतिष्ठोम में चमसाध्वर्यु कहे गये हैं। उनमें सन्देह है—क्या चमसों का होम चमसाध्वर्यु करें? अथवा अध्वर्यु करे? चमसाध्वर्यु करें, यह पूर्वपक्ष सूत्रकार ने प्रथम प्रस्तुत किया—

चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥४६॥

[**चमसान्**] चमसों का होम [**चमसाध्वर्यवः**] चमसाध्वर्यु करें, [**समाख्या-नात्**] चमसाध्वर्यु ऐसा नाम होने के कारण।

चमसों में अध्वर्यु-सम्बन्धी कर्मों को जो व्यक्ति करते हैं, वे चमसाध्वर्यु कहे जाते हैं। उनके इस नाम के आधार पर जाना जाता है कि चमसों का होम चमसा-ध्वर्यु नामवाले व्यक्तियों को करना चाहिए ॥४६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

अध्वर्युर्वा तत्प्रायत्वात् ॥४७॥

[वा] 'वा' पद पूर्वोक्त पञ्च 'चमसाध्वर्यु चमसों का होम करें' की निवृत्ति का द्योतक है। [अध्वर्युः] चमसों से होम अध्वर्यु करता है, [तत्प्रायत्वात्] ऐसा करना न्याय = उचित होने से।

जो जिस कार्य को करता है, उसके द्वारा ही उस कार्य का किया जाना उचित माना जाता है। होम अध्वर्यु द्वारा किया जानेवाला कर्म है, इसलिए उसे ही चमस-होम = चमसों में भरे सोम का होम— करना चाहिए। चमसाध्वर्यु नाम इस आधार पर नहीं है कि वे अध्वर्यु के कार्य को करते हैं, प्रत्युत इस आधार पर है कि अध्वर्यु के समान उनके भी चमस होते हैं; चमस समान होने से वे चमसाध्वर्यु कहे जाते हैं, अध्वर्यु का कार्य करने से नहीं। यदि होम करने को समानता का आधार माना जाता है, तो 'अध्वर्यु होम न करे, चमसाध्वर्यु होम करें' ऐसा मानने पर अध्वर्यु के साथ चमसाध्वर्यु व्यक्तियों की समानता रहनी ही नहीं। इसलिए होम करना समानता का आधार न होकर सबके चमसों का समान होना, समानता का आधार मानना युक्त है। होम केवल अध्वर्यु करता है ॥४७॥

इसी वर्ण की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चमसे चान्यदर्शनात् ॥४८॥

[चमसे] चमस के होम में [अन्यदर्शनात्] चमसाध्वर्यु से अन्य का दर्शन होने के कारण [वा] भी चमसाध्वर्यु होम नहीं करेगे।

चमस-होम-सम्बन्धी वचन है—‘चमसाद्वचमसाध्वर्यवे प्रयच्छति तान् स वषट्कर्त्रे हरति’—चमसों को चमसाध्वर्यु को देता है; वह उन चमसों को वषट्कर्ता को देता है। इससे ज्ञात होता है, चमसों में भरे सोम का होम करके रिक्त चमस को चमसाध्वर्यु को देनेवाला व्यक्ति चमसाध्वर्यु से भिन्न है। वह होम करनेवाला व्यक्ति अध्वर्यु है। आहुति देने के अनन्तर रिक्त चमस को अध्वर्यु सोमभक्षण के लिए चमसाध्वर्यु को देता है। सदस्थान में जाकर यथावसर उन चमसों में वे सोमभक्षण करते हैं।

इसका पीछक अन्य वचन है—‘यो वाऽध्वर्योः स्वं देद स्ववान् भवति । सुखा अध्वर्योः स्वं वायव्यमस्य स्वं चमसोऽस्य स्वम्’ [तै०सं० ३।१।२] निश्चय ही जो अध्वर्यु के ‘स्व’ को जानता है, वह स्ववान् होता है। सुक् ही अध्वर्यु का ‘स्व’ है, वायु देवतावाला पात्र (गृह) इसका ‘स्व’ है, चमस इसका ‘स्व’ है। अध्वर्यु का जो चमस है, वह अध्वर्यु का ‘स्व’ नहीं होता; वह यजमान का ‘स्व’ होता है। इस कारण उक्त वचन ‘चमस अध्वर्यु का स्व है’ यह कहता हुआ अध्वर्यु द्वारा चमस से होम किये जाने को प्रकट करता है। जन चमसों में भरे सोम का अध्वर्यु होम करता है, उन चमसों में यथापि सोमभक्षण चमसाध्वर्यु व्यक्ति करते

हैं, पर होम करने के नाते चमस को अध्वर्यु का 'स्व' कहा गया है। अतः होम अध्वर्यु ही करता है, चमसाध्वर्यु नहीं ॥४८॥

यदि चमसाध्वर्यु-सम्बन्धी चमस अध्वर्यु का 'स्व' है, तो 'चमसाध्वर्यु' नाम का आधार या प्रवृत्तिनिमित्त क्या होगा ?

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥४९॥

चमसाध्वर्यु-सम्बन्धी चमस केवल होम करने की दृष्टि से अध्वर्यु के 'स्व' हैं; सोमभक्षण की दृष्टि से वे अध्वर्यु के 'स्व' नहीं हैं। अतः अध्वर्यु के [अशक्तौ] उन चमसों में सोमभक्षण के लिए असमर्थ होने पर [ते] वे चमसाध्वर्यु [प्रतीये-रन्] उन चमसों में सोमभक्षण-सामर्थ्य से चमसाध्वर्यु नाम के साथ सम्बद्ध होंगे ।

चमसाध्वर्यु नाम का आधार या प्रवृत्तिनिमित्त ४७वें सूत्र के भाष्य में अध्वर्यु और चमसाध्वर्युओं के सोमभक्षणार्थं चमसों की समानता बताया है। सूत्रकार ने वही भाव प्रस्तुत सूत्र में प्रकारान्तर से प्रकट किया है। सोमभक्षणार्थं सबके अपने-अपने चमस उनके 'स्व' हैं। चमसाध्वर्युओं के आहुत चमसों में अध्वर्यु सोमभक्षण के लिए अशक्त होता है। अयोग्यता व अनीचित्य ही अशक्ति है। इस प्रकार सोमभक्षणार्थं सबके चमसों की समानता ही उक्त नाम का आधार है ।

अध्वर्यु का चमस यजमान का 'स्व' स्वामित्व की दृष्टि से कहा गया है, सोमभक्षण की दृष्टि से नहीं। फलतः होम का अधिकार केवल अध्वर्यु को जानना चाहिए, चमसाध्वर्यु को नहीं ॥४९॥ (इति चमसहोमेऽव्ययोः कर्तृताविकरणम्—२२) ।

(श्येनवाजपेययोरनेककर्तृताधिकरणम्—२३)

उद्गाता से सम्बद्ध सामवेद में श्येनयाग तथा अध्वर्यु से सम्बद्ध यजुर्वेद में वाजपेय याग कहा गया है। इसमें सन्देह है—क्या सामवेदकथित श्येनयाग का अनुष्ठान उद्गाता और उसके सहयोगी ऋत्विक् करें? तथा यजुर्वेद-कथित वाजपेय याग का अनुष्ठान अध्वर्यु और उसके सहयोगी ऋत्विक् करें? अथवा किसी भी वेद में कथित कर्म का अनुष्ठान सभी ऋत्विक् भिलकर करें? क्या प्राप्त होता है? जिस ऋत्विक्-सम्बन्धी वेद में जो कर्म विहित हैं, उनका अनुष्ठान उन्हीं सम्बद्ध ऋत्विकों द्वारा किया जाना चाहिए। इसी अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

वेदोपदेशात् पूर्वबद्धेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥५०॥

[वेदोपदेशात्] वेद में उपदेश = विधान का कथन होने से [पूर्ववत्] पहले के समान, परम्परा-प्राप्त जैसे प्रथम चलन है—आध्यर्थव संज्ञा के अनुसार यजुर्वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान अध्यर्थ और उसके सहयोगी ऋत्विक् करें; हीत्र संज्ञा के अनुसार ऋग्वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान होता एवं उसके सहयोगी ऋत्विक् करें। इसी प्रकार औद्गात्र = सामवेदीय कर्म उद्गाता व उसके सहयोगी करें। इसी रीति पर [वेदान्यत्वे] वेद का भेद होने पर [यथोपदेशम्] उपदेश के अनुसार जिसके वेद में जो कर्म उपदिष्ट हैं, वे उस कर्म का अनुष्ठान करनेवाले [स्युः] होने चाहिए।

जिस ऋत्विक् के नाम पर जो वेद परम्परा से प्रचलित है, उस वेद में कहे कर्मों को दे ही ऋत्विक् करेंगे। ऋग्वेद होता नाम से सम्बद्ध है। उसमें विहित कर्म 'हीत्र' कहे जाते हैं। होतृतृण ऋत्विक् उनका अनुष्ठान करते हैं। इसी कारण वे हीत्र कर्म हैं। आध्यर्थव = यजुर्वेद-विहित कर्म अध्यर्थुण द्वारा किये जाने चाहिए, और औद्गात्र = सामवेद-विहित कर्म उद्गातृतृण द्वारा अनुष्ठेय होने चाहिए। 'हीत्र' आदि इन संज्ञाओं के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि प्रत्येक वेद के अपने विहित कर्मों का अनुष्ठान उस वेद से सम्बद्ध ऋत्विजों द्वारा ही किया जाना चाहिए ॥५०॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गरवयक्तः शेषे ॥५१॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्र में कथित 'जिसके वेद में जो कर्म पढ़ा है, वह उसी ऋत्विक् के द्वारा किया जाना चाहिए' पद्ध की व्यावृत्ति का द्योतक है। [तद्ग्रहणात्] प्रकृतियाग एवं उसके धर्मो—अङ्गों के प्रहण से [स्वधर्मः] वह कर्म अपना ही धर्म [स्यात्] होता है, [अङ्गः] अङ्गों के [सह] साथ [अधिकारसामर्थ्यात्] एक अधिकृत प्रसंग में पठित होनेरूप सामर्थ्य से; [शेषे] शेष = उक्त से अतिरिक्त कर्म के विषय में [अव्यक्तः] व्यक्त = स्पष्ट अथवा विशेषित करनेवाला नहीं है, यह निश्चय है।

यजमान द्वारा ऋत्विजों का परिक्रय एवं वरण सभी अभीष्ट कर्मों के अनुष्ठान के लिए किया जाता है। किसी भी वेद में वर्णित सभी कर्मों का अनुष्ठान अवस्थानुसार सब ऋत्विक् मिलकर करते हैं। सभी याग दो प्रकारों में व्यवस्थित हैं—प्रकृति और विकृति। प्रकृतियाग मूल्य है, विकृतियाग उनके अङ्गभूत हैं उसी के धर्म हैं। अङ्गों के अनुष्ठान से अङ्गी = प्रकृतियाग की सम्पूर्णता सम्बन्ध

होती है। उन सभी का अनुष्ठान परिक्रीत ऋत्विजों द्वारा किया जाता है। किसी भी अज्ञभूत कर्म में अपेक्षित क्रिया-कलाप अतिदेश-वाक्य 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' के अनुसार प्रकृतियाग की अनुकूलता लक्ष्य कर अथवा उसका ध्यान रखते हुए किया जाता है। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा प्रश्न नहीं रह जाता, जिसके लिए वह मानना आवश्यक हो कि जो कर्म जिस वेद में पदा है, वह कर्म उसी वेद से सम्बद्ध ऋत्विक् को करना चाहिए। वस्तुस्थिति यह है कि किसी विशेष वेद के साथ विशेष ऋत्विक् का सम्बन्ध पूर्णरूप से लौकिक है। लोक-व्यवहार के लिए ऐसी कल्पना कर ली गई है। इसके लिए कोई प्रामाणिक ज्ञास्त्रीय वचन उपलब्ध नहीं है।

प्रकृति-विकृतिरूप सभी श्रोत तत्त्व 'अध्वर' कहे गये हैं। 'ध्वरतिहिसाकर्मा'-वे सब 'अध्वर' हिसारहित कर्म हैं। श्येन-वाजपेय आदि ऐसे कर्म नहीं हैं। इनमें हिसा की मानना रहती है। किन्हीं टोटकेबाज व्यक्तियों ने स्वार्थपरायणता से अभिभूत होकर इनका इस रूप में चलन किया, जो आज उपलब्ध है। सम्भव है, प्रारम्भ में इसका कुछ विशुद्ध रूप रहा हो।

श्येन-वाजपेय आदि के अनुष्ठाना यजमान का जैसा वर्णन विभिन्न श्रोत सूत्रों में उपलब्ध है, वह उनकी दुर्दृश्य व लानत-मलामत का ही प्रतीक है। वाज-पेयकर्ता यजमान यजयूप पर चढ़ता है। वहाँ पर लकड़ी में फैसी फिरकनी (चणाल) का स्पर्श करता है। चारों ओर शून्य में दृष्टि दौड़ाता है। 'ऋत्विक्' व प्रजाजन वड़े के पत्तों के दोनों में उसके फल अथवा ऊषर-मिट्टी भरकर उसपर फेंकते हैं। भख मारकर निसरहाय वह शूप से नीचे उतर आता है, यह वाजपेय-कर्ता के स्वर्ग का नजारा है। सूखकार कहता है—ऐसे कर्म किसी प्रकृतियाग के अज्ञ नहीं हैं। ऐसे ही कर्मों को देख श्रेणी में डालकर अव्यक्त कहा है।

इसी प्रकार श्येनयागकर्ता के विषय में कहा गया है—श्येनयाग की दक्षिणा में—काणी-कोतरी, लूली-लैंगड़ी, बण्डा-फण्डर जैसी बेकार—गायों को देना लिखा है। जैसा याग वैसी दक्षिणा। कहावत है—'यादशी शीतला देवी तावृणो बाह्नः खरः', जैसी शीतला देवी, वैसी उसकी सवारी 'गदहा'। इसपर तुरा यह है, उन बेकार, अधमरी गायों^१ को तीक्ष्ण काटों से कुरेदकर उनका रक्त निकालना

१. इसके लिए कात्यायन श्रोतसूत्र [१४।५।६-१२] द्रष्टव्य है। वहाँ अन्तिम वाक्य है—'तदनन्तरं सप्तदशाश्वत्थपत्रोपनद्वान् ऊषपुटान् उदस्यन्त्यस्मै-विशः'।
२. 'तासामपि दक्षिणवैलायां लोहितं जनयेयुः' [लाटधा० श्रौ० ८।५।१७] वा 'दक्षिणाकाले कण्टकंवितुदेयुः' [कात्या० श्रौ० २।३।२२] आप० श्रौ० २।३।२५।

लिखा है। तनिक सोचिए, ऐसी गायों में रक्त होगा कहाँ ? इन कुक्षमों से कौन-सा स्वर्ग प्राप्त होने की आशा की जा सकती है ? दक्षिणाकाल में काँटों से गायों को व्यक्ति करने का क्या अभिप्राय रहा होगा ? विचारणीय है। सम्भव है, ऐसी गायें सुविधा से अन्यत्र जाने में अनिच्छा प्रकट करती हैं, तब उन्हें काँट की तरह तीखी, पैनी आर आदि चुभोकर आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करना हो। यह कितना क्रूर कर्म है ! इसको धर्म का रूप कौन दे सकता है ?

ऐसा प्रतीत होता है, अभिन्नार-कृत्यों के ये विवरण उन्हें हेयपक्ष में डालने के लिए अधिक प्रेरित करते हैं। यूप पर चढ़े इन कृत्यों के यजमान को ऊषर की मिट्टी से भरे दोनों से मारना, उसकी हेयता को प्रकट करने के सुपुष्ट प्रगमाण है। जहाँ तक हो सके इन कुकृत्यों से साधारणजन दूर रहें, यही भावना प्रथम लिखने-वालों की रही होगी। इन आभिन्नारिक कृत्यों में उपादेयता का अंशमात्र भी कोई मुबुद्ध व्यक्ति नहीं सोच सकता। जैसे ऊषर की मिट्टी किसी प्रकार के अंकुरजनन आदि में अणुमात्र भी उपयोगी नहीं होती, और जैसे वरगद के होड़े क्षुधा आदि की निवृत्ति में सर्वथा अनुपयोगी हैं, चारों ओर से आभिन्नारिक यजमान को घेरकर इन वस्तुओं को उसके ऊपर फेंक मारने का क्या यही अभिप्राय न होगा कि जैसे ये वस्तुएँ सर्वथा निस्सार-निष्प्रयोजन हैं ऐसा ही तुम्हारा यह कर्म है ? इसमें कर्म के हेय होने की भावना स्पष्ट भलक रही है। सूत्रकार ने इनको श्रोत शुभ कर्गों की परिधि से बाहर निकाल दिया है ॥५१॥ (इति श्येन-वाजपेययोरनेकर्तृकताधिकरणम्—२३) ।

इति जैमिनीयमीमांसादर्शनस्योदयबोरशास्त्रविवरचिते
विद्योदयभाष्ये तृतीयाध्यायस्य सप्तमः पादः ।

तृतीयाध्याये अष्टमः पादः

(क्र्यस्य स्वामिकर्मताधिकरणम्—१)

वैदिक वाक्य है—‘स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन यजेत्’ सुखविशेष का कामनावाला व्यक्ति ज्योतिष्टोम नामक याग से यजन करे। यजन करनेवाला व्यक्ति यजमान कहाता है। ज्योतिष्टोम आदि याग क्रियाबहुल तथा बहुदिन-साध्य होते हैं। उन्हें सम्पन्न करना अकेले व्यक्ति के लिए शक्य नहीं होता। इसलिए यागकर्ता यजमान नियत पारिश्रमिक देकर उपयुक्त व्यक्तियों को यागानुष्ठान की सुविधा के लिए अपने अनुकूल बनाता है। ये व्यक्ति क्रृत्विक् कहाते हैं। भूति अथवा पारिश्रमिक रूप में जो नियत द्रव्य इन व्यक्तियों को दिया जाता है, उनका नाम ‘परिक्रमा’ है। इसका निश्चय यज्ञानुष्ठान के प्रारम्भ में हो जाता है; यज्ञ सम्पन्न हो जाने पर दक्षिणा-रूप में वह दिया जाता है, ऐसी प्रथा है। यह द्रव्य गाय आदि पशु, सोना आदि धातु, वस्त्र एवं सिक्का आदि के रूप में होता है। किस याग में कितना परिक्रम होना चाहिए? इसका उल्लेख यद्यपि आचार्यों ने किया है, पर इसमें यजमान और क्रृत्विजों के आपसी समझोते के अनुसार न्यूनाधिकता होती रहती है।

ज्योतिष्टोम प्रसंग में वाक्य है—‘ऋत्विजो वृणीते’ अथवा ‘ऋत्विजः परिक्रीणाति’ ऋत्विजों का वरण करता है, अथवा ऋत्विजों का परिक्रम करता है। इसमें सन्देह है—क्या यजमान ऋत्विजों का वरण एवं परिक्रम करता है? अथवा ऋत्विक् स्वयं अपना वरण करते हैं? यह स्थिति दोनों प्रकार की है। ऋत्विजों की संख्या १६ होती है। यागानुसार इनमें न्यूनता होती रहती है। ज्योतिष्टोम में पूरे सोलह, पर दर्श-पूर्णमास में चार ही ऋत्विक् रहते हैं। वरण की व्यवस्था इस प्रकार है कि प्रथम यजमान मुख्य चार ऋत्विजों का वरण करता है—अध्वर्यु, होता, उद्गाता, ब्रह्मा। यजमान परिक्रमरूप नियत द्रव्य देने का निर्णय कर इन्हें नियुक्त करता है। इनके लिए द्रव्य का व्यय यजमान करता है। ये चारों क्रृत्विक् अपने तीन-तीन सहयोगी ऋत्विजों का स्वयं वरण व परिक्रम करते हैं। ये अपने

सहयोगियों को अपने पारिश्रमिक में से निर्णीत अंश देकर सहयोग के लिए नियुक्त करते हैं।

आचार्य सूत्रकार ने पहली नियुक्ति के विषय में प्रथम सूत्र द्वारा बताया—

स्वामिकार्यं परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥१॥

[परिक्रयः] परिक्रय = कृत्विजों का वरण करना [स्वामिकार्यम्] स्वामी = यजमान का कार्य है, [कर्मणः] यागानुष्ठानरूप कर्म के [तदर्थत्वात्] उस स्वामी = यजमान के लिए होने के कारण।

यजमान अपने लिए याग करता है; उसके फल का भोक्ता वही होता है। वह सुविधापूर्वक निर्विघ्न सम्पन्न हो, इसके लिए धन व्यय करता है। इस कारण उसका अधिकार है कि याग की सम्पन्नता के लिए उपयुक्त कृत्विजों का परिक्रय करें। कृत्विजों के लिए यज्ञोपत्रद देयधन का निर्णय कर उनकी नियुक्ति कर लेता है। परिक्रय का परिमाण क्योंकि यागानुसार होता है, इसलिए दर्श-पूर्णमास में नियुक्त चार कृत्विजों की दक्षिणा केवल उनको भरपेट ओदन खिला देना मानी गई थी। अपने रूप में आज भी ऐसा होता है। इस दक्षिणा का नाम 'अन्वा-हार्य' है। अनु = यज्ञानुष्ठान के अनन्तर भरपेट आहार जिमा देने के कारण इसका उक्त नाम है। इससे जात होता है, विभिन्न यागों में उनके क्रियाकलाप के अनुसार यागारम्भ से पूर्व दक्षिणारूप में देय द्रव्यराचि का परिमाण नियत कर लिया जाता था। इस प्रकार मुख्य चार कृत्विजों का वरण यजमान करता है ॥१॥

मुख्य चार कृत्विज् अपने अपने तीन सहयोगियों का वरण स्वयं करते हैं। इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

वचनादितरेषां स्यात् ॥२॥

[इतरेषाम्] इतर = अन्य सहयोगी कृत्विजों का वरण [वचनात्] मुख्य कृत्विजों के कथनानुसार [स्यात्] होता है।

मुख्य कृत्विज् अपने सहयोगी कृत्विजों का वरण स्वयं करते हैं, तथा दक्षिणारूप में प्राप्त अपने धन का निर्धारित अंश उन्हें देते हैं। इन सभी कृत्विजों द्वारा यागानुष्ठान में किया जानेवाला कार्यकलाप यजमान का किया ही समझा जाता है। क्योंकि परिक्रयरूप में दिया गया समस्त धन मूलरूप में यजमान द्वारा ही व्यय किया गया है, तथा वही उस कर्म के फल का भोक्ता होता है, इसलिए सभी परिक्रय स्वामी का माना गया है।

व्यवस्था की दृष्टि से यह सर्वेषां उपयुक्त है कि चार मुख्य कृत्विज् अपने सहयोगियों का परिक्रय अपनी इच्छा के अनुसार स्वयं करें। यागानुष्ठान के अवसर पर यागसम्बन्धी निर्धारित कार्य को सम्पन्न करने के लिए कौन व्यक्ति

योग्य है ? इसका निर्णय मुख्य कृत्विज् ही अपने-अपने कार्य के अनुसार कर सकते हैं। यदि सहयोगियों का परिक्रय भी स्वयं यजमान करता है, तो अनुष्ठान के अवसर मुख्य कृत्विज् द्वारा सहयोगी की अज्ञता का प्रदत्त उठ सकता है। इससे यज्ञानुष्ठान में वाधा की सम्भावना नहीं रहती है। मुख्य कृत्विजों द्वारा अपने-अपने सहयोगी के परिक्रय में ऐसे वाधक अवसर उभरने की कोई आशंका नहीं रहती ॥२॥ (इति क्रपस्य स्वामिकर्मताऽधिकरणम्—१) ।

(वपनादिसंस्काराणां याजमानताऽधिकरणम्—२)

ज्योतिष्ठोम प्रसंग में कृतिपय वाक्य पठित हैं—‘केशश्मश्रु वपते, दतो धावते, नखानि निकृन्तते, स्नाति’ आदि—‘सिर के बाल दाढ़ी-मूँछ मुँडवाता है, दाँतों को धोता है, नखों को काटता है, स्नान करता है।’ इनके विषय में सन्देह होता है—क्या ये कार्य अच्छवर्यु आदि को करने चाहिए ? अथवा यजमान को ? प्रतीत होता है, ये कार्य पुरुष द्वारा किये जाते हैं। जिस वेद में इनका निर्देश है, और उस वेद से जिस पुरुष का सम्बन्ध है, उसी को ये कार्य करने चाहिए ।

इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपञ्चरूप में प्रस्तुत किया—

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्
व्यवतिष्ठेरन् ॥३॥

[संस्कारा:] केशश्मश्रु के वपन आदि संस्कार [तु] तो [पुरुषसामर्थ्ये] कर्म करनेवाले पुरुष के सामर्थ्य में सम्बद्ध होते हैं। तात्पर्य है—कर्म करने के लिए पुरुष को समर्थ बनाने में ये संस्कार प्रेरक व निमित्त होते हैं। इस प्रकार [यथावेदम्] जो संस्कार जिस वेद में पठित हैं, उस वेद से कार्य करनेवाले अथवा उससे सम्बद्ध कृत्विक् में [कर्मवद्] अपने वेद से सम्बद्ध कर्मों के समान [व्यवतिष्ठेरन्] व्यवस्थित होने चाहिए ।

स्तोत्र-शस्त्र आदि कर्म सामवेद में पठित हैं, उससे सम्बद्ध कृत्विक् उद्गाता है। इसलिए उद्गाता द्वारा स्तोत्र-शस्त्र आदि कर्म किये जाने की व्यवस्था है। इसी प्रकार केशश्मश्रु-वपन आदि संस्कार आच्छवर्यंव वेद में पठित हैं, इसलिए उस वेद से सम्बद्ध अच्छवर्यु कृत्विक् उक्त कर्मों को करे, यह व्यवस्थित होता है। समालूप्या—नाम के आधार पर यह व्यवस्था की जाती है। ये आच्छवर्यंव कर्म हैं; अच्छवर्यु द्वारा किये जाने चाहिए ॥३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपञ्च का समाधान किया—

१. इन वाक्यों के लिए द्रष्टव्य—तौ० सं० ६।१।१२॥ आपस्तम्ब श्री० १०।५।१४॥

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत् ॥४॥

[तु] 'तु' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का द्योतक है। तत्पर्य है—समाख्या के आधार पर केश-वपन आदि संस्कार अव्यर्थ को करने चाहिए,—ये यह कथन युक्त नहीं। [याजमानः] उक्त संस्कार यजमान-सम्बन्धी हैं, [तत्प्रधानत्वात्] यजमान के प्रधान होते से, [कर्मवत्] याग आदि कर्मों के समान।

याग अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान में जैसे यजमान की प्रधानता रहती है, वे यजमान से सम्बद्ध जाने जाते हैं, ऐसे ही केशशमश्रु-वपन आदि संस्कार भी यजमान से सम्बद्ध हैं। यजमान पुरुष का प्राधान्य कौसे है? यह तथ्य 'वपते, धावते, निकृतते' आदि क्रियापदों में आत्मनेपद के प्रयोग से जाना जाता है। जब क्रियाफल कर्तृगामी होता है, उसी दशा में आत्मनेपद का प्रयोग किया जाता है। केश-वपन आदि याग के अङ्ग हैं। याग का कर्ता यजमान है। उनके फल से यजमान प्रभावित होता है। वपन आदि संस्कारों से वह यागानुष्ठान के लिए योग्य बनता है। अर्थर्थ आदि ऋत्विजों का परिकल्पना यजमान इस भावना से नहीं करता कि यागानुष्ठान का फल उन ऋत्विजों को मिले। इसलिए जिस कर्म से जिसकी समर्थता व योग्यता उत्पन्न होती है, उसी को वह कर्म करना चाहिए। जैसे प्रधान कर्म यजमान पुरुष के लिए होते हैं, वैसे ही केश-वपन आदि अङ्ग-कर्म भी यजमान पुरुष के होने चाहिए।

इस विषय में विचारणीय है कि आत्मनेपद के रूप में केवल व्याकरण पर आधित हेतु कोई अटूट हेतु नहीं है। पूर्वोक्त वाक्यों में ही अन्तिम 'स्नाति' क्रिया परस्मैपदी है। इसमें क्रिया-स्नान का फल शान्ति-शीतलता-देहशुद्धि आदि स्पष्ट कर्तृगामी है, पर क्रियापद आत्मनेपदी नहीं है। अनेक धातु उभयपदी हैं। इसलिए आत्मनेपदी क्रिया का फल ही कर्तृगामी होता है, ऐसी नियत व्यवस्था वर्तमान संस्कृत वाङ्मय में दृष्टिगोचर नहीं है। फलतः सूत्र का आशय इतना ही समझना अभीष्ट है कि वपन, धावन, निकृतन, स्नान आदि क्रियाओं के फल से केवल यजमान प्रभावित होता है। प्रधान याग के अनुष्ठान के लिए ये संस्कार उसे कर्ता के रूप में योग्य बनाते हैं। अतः उसी के ये संस्कार हैं; अन्य अव्यर्थ आदि किसी के नहीं ॥४॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

व्यपदेशाच्च ॥५॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश = अन्य स्पष्ट कथन से [च] भी जाना जाता है कि केश-वपन, नस्त-निकृतन आदि संस्कार यजमान के किये जाते हैं।

इस प्रसंग के शतपथ ब्राह्मण [३।१।३।६] में पाठ है—'तमभ्यनक्षित'-तम् =

उस यजमान को अधर्यु नवनीत से अभ्यञ्जन (= उबटन) करता है । इसके आगे [३।१।३।११ में] कहा—‘अयाक्ष्यावानकित’—उसके अनन्तर आँखों को सुरमा से आँजता है । इस सुरमा या अञ्जन को वहाँ ‘त्रिककुद’ कहा है—‘त्रिककुद्’ नामक पर्वत के पश्चर से बना हुआ सुरमा । सुरमा या अञ्जन पश्चर से बनाया जाता है । यहाँ ‘तम्’ इस कर्मचारक ‘तत्’ सर्वनाम से ‘यजमान’ कहा गया है । अधर्यु कृत्तिव्यक्त यजमान की देह को नवनीत से मर्दन करता है, तथा उसकी आँखों में अञ्जन लगाता है । यहाँ स्पष्ट ही अभ्यञ्जन (= उबटन) और अञ्जन यजमान का संस्कार कहा गया है । इसी के समान साथी पूर्वोक्त केशवपन, नस-निकृन्तन आदि संस्कार हैं । वे भी यजमान के हो सकते हैं; अन्य किसी के नहीं ॥५॥

आधर्यं व नाम-निर्देश के विषय में सूत्रकार ने बताया—

गुणत्वे तस्य निर्देशः ॥६॥

[तस्य] उस ‘आधर्यं व’ समाख्यान = नाम का [निर्देशः] निर्देश = कथन [गुणत्वे] क्रिया के गुण होने में अर्थात् अङ्गभूत कर्मों में समञ्जस जानना चाहिए ।

प्रथम जो यह कहा है कि ‘आधर्यं व’ आदि नाम-कथन से यथावेद कर्तृत्व होगा, ऐसा कथन युक्त नहीं है, क्योंकि अधर्यु आदि के कर्तृत्व का सामञ्जस्य गुणभूत कर्मों में है । प्रधान कर्म में कर्तृत्व केवल यजमान का रहता है । अधर्यु यजमान-देह का उबटन करता है, या आँखों को आँजता है, ये सब संस्कार प्रधान कर्म के अङ्गभूत हैं । आजना या उबटना क्रिया को करनेवाला अधर्यु है । केश-वपन आदि क्रियाओं को करनेवाला अन्य व्यक्ति ही होता है । क्रियाओं का विषय यजमान है । वे क्रियाएँ उसपर आयोजित हो रही हैं—केश उसके कट रहे हैं, स्नान वह कर रहा है, आँखें उसकी आँजी जा रही हैं । इनके करनेवाले अन्य हैं । ये सब क्रियाएँ प्रधान कर्म के अङ्गभूत हैं । संस्काररूप ये सब क्रियाएँ यजमान में होती हैं । उनका आधार यजमान है । इसी रूप में—अन्य द्वारा की जानेवाली क्रियाओं में भी वह मुख्यकर्ता रहता है । अधर्यु आदि अन्य व्यक्तियों का कर्तृत्व प्रधान कर्म का अङ्गभूत है । उसका कथन इसी रूप में समञ्जस है । फलतः केश-वपन आदि संस्कार यजमान के हैं, यह निरिचत होता है ॥६॥

इसी अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

चोदनां प्रति भावाच्च ॥७॥

केश-वपन आदि संस्कारों के [चोदनाम्] चोदना—अपूर्वोत्पत्ति के [प्रति] लिए [भावात्] होने से [च] भी जाना जाता है कि केश-वपन आदि संस्कार

यजमान-सम्बन्धी है।

यजमान अपने लिए अपूर्व = घर्मविदेष की उत्पत्ति की भावना से ज्योतिष्ठोम आदि याग का अनुष्ठान करता है। केश-वपन आदि संस्कार उस प्रधान कर्म के अज्ञभूत कर्म हैं। अपूर्वोत्पत्ति में वे प्रयोजक होते हैं। वह अपूर्व क्योंकि यजमान के लिए है, इसलिए वे संस्कार यजमान के ही सम्भव हैं। अच्चर्य आदि ऋत्विक् यजमान के लिए यजसम्पादन में साधनमात्र हैं। यागसम्पादनार्थं उनका संस्कार अनपेक्षित है। यदि वे स्वयं वपन आदि संस्कार करें, तो उसे याग का न कुछ बनता है, न विगड़ता है। यदि याग का अनुष्ठान यजमान वपन आदि संस्कार न करे, तो याग विकृत हो जायगा, अपूर्वोत्पादन में असमर्थ होगा। इसलिए केश-वपन आदि संस्कार यजमान से सम्बद्ध हैं, यह निश्चित है ॥७॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—यजमान और ऋत्विक् सब मिलकर समान रूप से यागानुष्ठान करते हैं। दोनों की समानता में यजमान के वपन आदि संस्कार हों, ऋत्विजों के न हों ऐसा क्यों? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

अतुल्यत्वादसमानविधानः स्युः ॥८॥

[अतुल्यत्वात्] यजमान और ऋत्विजों के परस्पर तुल्य = समान न होने से वपन आदि संस्कार [असमानविधानाः] यजमान और ऋत्विक् दोनों के लिए समान रूप से विहित नहीं [स्युः] हैं।

यजमान याग का अनुष्ठान होने से स्वामी है। वह धन व्यय करके ऋत्विजों का परिक्रमा करता है, अपने यागानुष्ठान-रूप कर्म को मुचाहरूप से संचालित करने के लिए। इस प्रकार यागानुष्ठान-रूप कार्य में यजमान और ऋत्विक् दोनों की उपस्थिति समान नहीं है। यजमान याग का कर्ता है, ऋत्विक् साधनमात्र है। याग का फल कर्ता को मिलता है; याग की परिनिष्ठा के लिए विहित वपन आदि संस्कार कर्ता के सम्भव हैं; तभी वह याग के फल का अधिकारी हो सकता है। ऋत्विजों को उस फल से कोई सरोकार नहीं। वे तो केवल अपने नियत पारिश्रमिक द्रव्य के अधिकारी हैं। उनके लिए वपन आदि संस्कारों का विधान नहीं है। फलतः यागानुष्ठान में यजमान और ऋत्विजों की उपस्थिति समान नहीं है ॥८॥ (इति वपनादिसंस्काराणां याजमानताधिकरणम्—२)

(तपसो याजमानताधिकरणम्—३)

ज्योतिष्ठोम में तप सुना जाता है—‘द्वचहं नाशनाति, अहं नाशनाति’—दो दिन नहीं खाता, तीन दिन नहीं खाता। यहाँ सन्देह है—क्या यह अनश्वन व्रतरूप तप यजमानसम्बन्धी है? अथवा ऋत्विजों से सम्बद्ध है? प्रतीत होता है, तप ऋत्विजों का होना चाहिए, क्योंकि तप का विधान यजुर्वेद में है और उसका

अच्वर्गु से सम्बन्ध है।

ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥६॥

[तपः] देह का शोषण करनेवाला अनशनरूप तप [च] भी यजमान-सम्बन्धी है, [फलसिद्धित्वात्] फल की सिद्धि करनेवाला होने के कारण, [लोकवत्] लोकव्यवहार के समान।

लोकव्यवहार में देखते हैं, मलिन दर्पण आदि को उपयुक्त द्रव्य से रगड़-विसकर—मुखादि अङ्गों को देखने के लिए—शुद्ध-स्वच्छ कार्यक्षम बनाया जाता है। आलस्य पुरुष की मलिनता है, जो अन्न आदि के अधिक व निरन्तर प्रयोग से उत्पन्न होती है। ऐसी दशा में प्रत्येक पुरुष अपने निर्धारित कार्य को सम्पन्न करने में सतकं नहीं रह पाता। ज्योतिष्ठोग जैसे पवित्र एवं महान् कर्म को निर्विघ्न सम्पन्न करने के लिए यजकर्ता को आलस्यहीन व सक्रिय रहना आवश्यक है। इसलिए यथारेक्षित दो या तीन दिन अन्न का उपयोग न कर दुर्घट आदि हृत्के सुपाल्य आहार को लेकर यजमान का सक्रिय-सक्षम बना रहना उपयुक्त है। उसके उजागर रहने पर ऋत्विक् स्वतः कार्यसंलग्न बने रहते हैं। इसलिए अनशन-व्रतरूप तप यजमान-सम्बन्धी जानना चाहिए। याग की निर्विघ्न सम्पन्नता, यागजन्य फल की सिद्धि यजमान के लिए ही करती है। अतः तप उसी के लिए है ॥६॥

इसी अर्थ को सूत्रकार ने प्रकारान्तर से पुष्ट किया—

बाक्यशेषश्च तद्वत् ॥१०॥

[बाक्यशेषः] अनशनविधि का बाक्यशेष [च] भी [तद्वत्] जैसे तप यजमानसम्बन्धी हो बैसे बताता है।

तप यजमानसम्बन्धी है, यह तथ्य अनशनविधि के बाक्यशेष से भी जाना जाता है। बाक्यशेष है—‘यदा वै पुरुषे न किञ्चानान्तर्भवति, यदास्य कृष्णं चक्षुषोन्नश्यति, अथ मेध्यो मवति’ निश्चित ही जब पुरुष में नितान्त भी पाप की मात्रा नहीं रहती, और आँखों में पाप की कालिमा नष्ट हो जाती है, तब पुरुष मेध्य होता है। मेध का अर्थ यज-याग है, मेघ का अर्थ पवित्र है। अनशन द्वारा जो कष्ट या दुःख का अनुभव होता है, वह दुःख-भोग द्वारा पाप का नष्ट होना है। उससे पवित्रात्मा होकर पुरुष यागानुष्ठान के लिए उपयुक्त एवं योग्य हो जाता है। चक्षुओं में पाप की मलिनता के नष्ट होने का तात्पर्य है, पाप-प्रवृत्ति की ओर भावना का भी कभी न उभरना। आँख ही सबसे पहले पाप की ओर

प्रवृत्ति को उभारती है। वह मलिनता आँखों में न रहे, तो आन्तरिक भावना पाप की ओर कभी पग न बढ़ायेगी। 'कृश' होना भी पाप की दुर्बलता को लकित करता है।

सूत्रकारों ने जो इस वाक्यशेष सन्दर्भ के अर्थ किये हैं कि आँख की कृष्ण-तारा का दिखाई न देना, अर्थात् अनशन के फलस्वरूप आँखों का अन्दर घैंस जाना; तथा 'कृश' का अर्थ—शरीर का इतना दुर्बल हो जाना कि चमड़ा हड्डियों से जाकर चिपट जाय। ऐसा अर्थ युक्त प्रतीत नहीं होता। ऐसा व्यक्ति यज्ञानुष्ठान करने में पर्याप्त क्षेत्र रह सकता है? अनशन वा तात्पर्य इतना ही ज्ञात होता है कि पाप की ओर प्रवृत्ति से सर्वथा विरत रहा जाय।

दत्तकाशेष में अनशनकर्ता पुरुष को मेध्य अर्थात् धज्ज करने के योग्य बनना बताया है। यज्ञानुष्ठान की दीक्षा यजमान ने ली है। इसलिए वाक्यशेष द्वारा तप का सम्बन्ध यजमान के साथ होना द्योतित होता है ॥१०॥

शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या यह नियत व्यवस्था है कि सर्वत्र यामानुष्ठान में यजमान ही तप करे? आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

वचनादितरेणां स्यात् ॥११॥

[वचनात्] वचन-सामर्थ्य से [इतरेषाम्] अन्य ऋत्विजों का भी तप [स्यात्] होता है।

जिस किसी प्रसंग में ऋत्विजों के अनशन आदि के विधय में वचन उपलब्ध होता है, वहाँ उनका भी तप जानना चाहिए। जैसे—'रात्रि सत्रे सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति'—रात्रि सत्र में सब ऋत्विज् उपवास करते हैं। भाष्यकार शब्दर स्वामी ने यह वाक्य भाष्य में उद्धृत किया है, पर इसके मूलग्रन्थ और प्रसंग का कुछ पता नहीं है ॥११॥

जिस वेद में तप का निर्देश है, उसी से सम्बद्ध ऋत्विक् तप करे। तप यजुर्वेद में निर्दिष्ट है; वह आध्वर्यव—आध्वर्यु से सम्बद्ध वेद कहा जाता है, इसलिए समाख्या के अनुसार केवल अध्वर्यु ऋत्विक् को तप करना चाहिए, ऐसी व्यवस्था नहीं है। सूत्रकार ने इसी अर्थ को बताया—

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

[गुणत्वात्] तपादि कर्म के गुणभूत होने से [च] भी [वेदेन] वेद से—आध्वर्यव वेद में तप के पठित होने से—ऋत्विजों में केवल अध्वर्यु ऋत्विक् तप करे, ऐसी [व्यवस्था] व्यवस्था [न] नहीं [स्यात्] है।

आध्वर्यव समाख्या के आधार पर ऋत्विक्-सम्बन्धी तप कहना युक्त नहीं है। समाख्या से प्रधान का ही ग्रहण किया जाता है। तप गुणभूत कर्म है; समाख्या से

यह गृहीत नहीं होता । इसलिए जहाँ कृत्वजों के सिए तप का निर्देश है, वह सामान्य रूप से सभी कृत्वजों का कर्तव्य होगा ॥१२॥ (इति तपसो याजमान-ताधिकरणम्—३) ।

(लोहितोष्णीषतादीनां सर्वत्वधर्मताधिकरणम्—४)

बारहवें सूत्र की व्याख्या भाष्यकार शब्दर स्वामी ने अतिरिक्त अधिकरण मानकर भी की है, जो इस प्रकार है—

श्येनयाग के प्रसंग में पाठ है—‘लोहितोष्णीषा लोहितवाससो निवीता कृत्विजः प्रचरन्ति’ [षड्विश ब्रा० ३।८]—लाल पगड़ीवाले, लाल कपड़ेवाले कृत्विक् कर्म कर रहे हैं । तथा वाजपेय याग में पाठ है—‘हिरण्यमालिन कृत्विजः सुत्येऽहनि प्रचरन्ति’ [आप० श्रौ० १४।२।११]—सुवर्ण की मालावाले कृत्विक् सोमयाग के दिन कर्म करते हैं ।

इनमें सन्देह है—क्या श्येनयाग में उद्गाताओं को लाल पगड़ी व वस्त्र धारण करने चाहिए? तथा वाजपेय में अध्वर्यु और उसके सहयोगियों को सुवर्ण माला धारण करनी चाहिए? अथवा दोनों धर्म सब कृत्वजों के माने जाने चाहिए? प्रतीत होता है, लाल पगड़ी व वस्त्र-धारण केवल उद्गाताओं का धर्म हो; क्योंकि श्येनयाग की उत्पत्ति सामवेद में है । उसकी औद्गात्र संज्ञा होने के कारण समाख्या के आधार पर उद्गाताओं को ही लाल पगड़ी व वस्त्र धारण करने चाहिए । इसी प्रकार वाजपेय याग की उत्पत्ति यजुर्वेद में है । उसकी आध्वर्यव संज्ञा होने के कारण अध्वर्यु कृत्वजों को ही सुवर्ण की माला धारण करनी चाहिए ।

ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

लाल पगड़ी व कपड़े पहनना, सुवर्ण की माला धारण करना, इन दोनों धर्मों के [गुणत्वात्] गुणभूत होने से [च] भी [वेदेन] औद्गात्र और आध्वर्यव वेद समाख्या से [व्यवस्था] धर्मों का नियमन [न] नहीं [स्यात्] होता ।

लोहितोष्णीषता (लाल पगड़ी पहने हुए होना) और हिरण्यमालेता (सुवर्ण माला धारण किये हुए होना) दोनों गुणभूत धर्म हैं । ये धारण करनेवाले पुरुष के विशेषणरूप में कहे गये हैं; कर्तव्यता के रूप में नहीं कहे गये । इससे पुरुष का प्राधान्य स्पष्ट है । समाख्या इसमें संकोच—नियमन नहीं कर सकती । इससे यही परिणाम सामने आता है कि कृत्विक् पुरुषों को इन धर्मोवाला होना चाहिए । फलतः इन धर्मों का सम्बन्ध सभी कृत्वजों के साथ है । श्येनयाग में सब लाल पगड़ी व लाल वस्त्र धारण करें । वाजपेय में सब कृत्वजों को सुवर्ण की माला

धारण करनी चाहिए ॥१२॥ (इति लोहितोष्णीषतादीनां सर्वत्वधर्मताथि-
करणम्—४) ।

(ज्योतिष्टोम प्रसंग में पाठ है—‘यदि कामयेत् वर्षत् पर्जन्य इति नीचैः सदो मिनुयात्’ [मैत्रा० सं० ३।८।६]—यदि कामना करे कि पर्जन्य बरसे, तो सदो- मण्डप का नीचे मान करे । न बरसने की कामना में मान ऊँचा करे । बरसने के अवसर पर पर्जन्य नीचा रहता है; न बरसने पर ऊँचा रहता है । गूलर की लकड़ी का थूँग गाढ़कर उसपर सदोमण्डप की छान टिकाई जाती है । छान की ऊँचाई- नीचाई रखने में यह भावना भी प्रतीत होती है कि पर्जन्य बरसने की स्थिति में छान कुछ नीची रहे, तो इधर-उधर से बालड़ आने की सम्भावना नहीं रहती । पर्जन्य न बरसने पर बालड़ का भय नहीं; छान का मान ऊँचा रखा जा सकता है ।

इसमें सन्देह है—यह पर्जन्य बरसने या न बरसने की कामना क्या क्रृत्विक्-
सम्बन्धी है? अथवा यजमान-सम्बन्धी है? तात्पर्य है, यह कामना कौन करे?
यजमान अथवा क्रृत्विक्? आध्वर्यव वेद में पठित होने से यह कामना क्रृत्विक्
अधर्यु की सम्भव है। ‘मिनुयात्’—‘मान करे’ का सीधा सम्बन्ध अधर्यु के
साथ है ।

ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सिद्धान्तपक्ष प्रस्तुत किया—

तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥१३॥

[तथा कामः] ‘कामः’=कामना तथा=वेसे ही है जैसे तप । तात्पर्य है—
तप के समान कामना भी यजमान से सम्बद्ध है, [अर्थसंयोगात्] अङ्गसहित
याग के अर्थ=फल का यजमान से सम्बन्ध होने के कारण ।

‘ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्’—स्वर्ग-सुख की कामनावाला ज्योतिष्टोम
याग से यजन करे’ वाक्य के अनुसार कामना का सीधा सम्बन्ध यज-गान से है ।
ज्योतिष्टोम में जितने अङ्ग-कर्म हैं, स्वभावतः उनका सम्बन्ध भी यजमान से
होगा । सदोमण्डप की छान का मान समाख्या के आधार पर अधर्यु करता है ।
‘मिनुयात्’ क्रियापद की एकवाक्यता अधर्यु के साथ है । क्रियापद में परस्मैपद
का प्रयोग यह प्रकट करता है कि वह मान अधर्यु के अपने लिए नहीं है । वह
परार्थ—यजमान की कामना के अनुरूप सदोमण्डप के आवरण का मान करता
है । इसलिए मूल कामना यजमान से सम्बद्ध है, क्योंकि अङ्गसहित ज्योतिष्टोम-
याग के फल का भोक्ता यजमान है । परिक्रीत अधर्यु आदि क्रृत्विक् याग-सम्बन्धी

सब कार्यं यजमान की कामना के अनुसार ही करते हैं ॥१३॥

शिष्यं जिज्ञासा करता है—क्या यह नियत व्यवस्था है कि सर्वत्र कामना यजमान से सम्बद्ध है? आचार्यं सूत्रकारं ने बताया—

व्यपदेशादितरेषां स्पात् ॥१४॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश = शास्त्रीय कथन से [इतरेषाम्] अन्यों = ऋत्विजों का भी कामना के साथ सम्बन्ध [स्पात्] होता है।

जहाँ ऐसा शास्त्रीय वचन उपलब्ध है, जिससे कामना का सम्बन्ध ऋत्विक् के साथ ज्ञात होता है, वहाँ ऋत्विक् की कामना का होना मान्य है। जैसे वाक्य है—

‘एवंविद् उद्गाता आत्मने वा यजमानाय वायं कामं कामयते तमागायति’—‘ऐसा जानकार उद्गाता ऋत्विक् अपने अथवा यजमान के लिए जिस काम की कामना करता है, उसको गाता है, सामग्रान के रूप में उसका कथन करता है।’ यहाँ ‘आत्मने’ अर्थात् ‘अपने लिए’ पद से उद्गाता की अपनी कामना का स्पष्ट निर्देश किया गया है। इसलिए जहाँ शास्त्रीय वचन यजमान से अतिरिक्त उद्गाता आदि ऋत्विक् की कामना का निर्देश करता है, वहाँ ऋत्विक् की कामना मान्य जाननी चाहिए।

यदि ‘आत्मने’ का अर्थ—इस भावना से कि कामना सर्वत्र यजमान की होनी चाहिए—‘यजमान के लिए’ कल्पना किया जाता है, तो वाक्य में ‘यजमानाय’ पद और ‘वा’ पद निष्प्रयोजन हो जाते हैं। यह मी ध्यान देने योग्य है कि ‘आत्मने’ का अर्थ ‘यजमान के लिए’ क्यों कल्पना किया जाय जबकि ‘यजमानाय’ पद स्वयं उक्त वाक्य में पठित है? ‘वा’ पद इनके भेद को स्पष्ट करता है। इसलिए वाक्य के अनुसार विशिष्ट स्थलों में उद्गाता की कामना भी मान्य

१. ‘एवंविद् उद्गाता आत्मने वा’ इत्यादि वचन शब्दोऽपाठ॑ १३३, तथा माध्यन्दिनीय बृह० उप० ११३ के मधुविद्या प्रकरणगत प्राणोपासना में पठित है। इसका भाव यह है कि जो प्राणविद् उद्गाता है, वह तीन पवमान (=बहिष्पवमान, माध्यन्दिन पवमान, आर्भ पवमान) स्तोत्रों में यजमान के लिए उद्गान के अनन्तर अवशिष्ट ६ स्तोत्र (=आज्य, पृष्ठच, अग्निष्टोम, उक्त्य, षोडशी, रात्रि, सन्धि, आप्तोर्याम, वाजपेयसंज्ञक स्तोत्र) अपने लिए अन्नाद्य का आगान करे=आगान से अन्नाद्य काम को सम्पादित करे। इस कारण, इस प्रकार प्राणविद् उद्गाता अपने लिए वा यजमान के लिए जिसकी इच्छा करता है, उसको आगान से प्राप्त करता है। उपर्युक्त ३ पवमान स्तोत्र तथा अन्य आज्य आदि ६ स्तोत्र=१२ स्तोत्र सोमयाग की संस्थाओं में प्रयुक्त होते हैं। (यु० मी०)

है ॥१४॥ (इति वृष्टिकामनाया याजमानताधिकरणम्—५) ।

(आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताधिकरणम्—६)

इस अधिकरण में ‘आयुर्दा अग्ने आयुर्म देहि’ इत्यादि मन्त्र विचारणीय हैं। हे अग्ने ! तुम आयु के देनेवाले हो, मुझे आयु दो । ‘वर्चोदा असि अग्ने वर्चो मे देहि’ हे अग्ने ! तुम वर्चस् के देनेवाले हो, मुझे वर्चस् दो । इनमें सन्देह है—क्या ने मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं ? अथवा ऋत्विक्-सम्बन्धी हैं ? तात्पर्य है—यह आयु और वर्चस् की कामना ऋत्विक् करता है ? अथवा यजमान करता है ? आव्यर्थ व वेदपठित होने से ये मन्त्र सामाख्या के आधार पर अव्यर्थ ऋत्विक्-सम्बन्धी प्रतीत होते हैं । ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् ॥१५॥

[अकर्मकरणः] जिनसे आहुतिप्रक्षेप आदि कोई कर्म नहीं किया जाता, वे [मन्त्रः] आयुर्दा०, वर्चोदा० तेजोऽसि आदि मन्त्र [च] भी [तद्वत्] कामना के समान यजमान-सम्बन्धी हीं जानने चाहिए ।

ये ‘आयुर्दा’ आदि मन्त्र आशीर्वचनरूप हैं । ये अभिहोत्र होम आदि कर्प के सम्पन्न होने पर प्रार्थनारूप में बोले जाते हैं । इन मन्त्रों का उच्चारण यजमान अपने लिए करे, अथवा ऋत्विक् करें ? यह सन्देह प्रकट किया । सूत्रकार का समाधान है—यज्ञ-सम्पादन के लिए अभिन का आधान यजमान करता है । उस अभिन में—उच्चारणपूर्वक करित्य मन्त्रां ये—आज्य आदि द्रव्य की आहुति दी जाती है । इन मन्त्रों का कर्मानुष्ठान में विनियोग होने के कारण इन्हे ‘विनियुक्त’ मन्त्र कहा जाता है । सूत्र में इनको ‘कर्मकरण’ मन्त्र कहा है । कर्म सम्पन्न हो जाने पर कर्म के फलरूप जो आशीर्वचनरूप में मन्त्र बोले जाते हैं, जिनसे कोई आहुति नहीं दी जाती, वे कर्म में विनियुक्त नहीं हैं; सूत्र में उनको ‘अकर्मकरण’ मन्त्र कहा है । इन मन्त्रों द्वारा अपने में दिशेष गुणों के आधान की परमात्मा से प्रार्थना की जाती है । यज्ञ के अनन्तर यज्ञ के फलरूप में उसी व्यक्ति के द्वारा की जा सकती है, जिसने अभिन का आधान कर कर्मानुष्ठान किया है । वह केवल यजमान है; ऋत्विक् नहीं । ऋत्विक् यजमान द्वारा परिश्रीत होते हैं । यज्ञ का फल उनको प्राप्त नहीं होता । उनका पारिश्रमिक फल दक्षिणा-मात्र है ।

इन मन्त्रों का उच्चारण—यजमान की भावना से भी—ऋत्विजों द्वारा किया जाना उपयुक्त नहीं है । क्योंकि, इन मन्त्रों में ‘मे’ अथवा ‘मयि’ ऐसे पद हैं, जो यजमान के लिए अन्य के द्वारा उच्चारण नहीं किये जा सकते । फलतः ये मन्त्र पूर्णरूप से यजमान-सम्बन्धी हैं, यह निश्चित है ॥१५॥

उबत अर्थ की पुष्टि में सूत्रकार अन्य युक्ति प्रस्तुत करता है—

विप्रयोगे च दर्शनात् ॥१६॥

[विप्रयोगे] प्रवास में—यजमान के अन्य स्थान में जाने पर [दर्शनात्] देखे जाने से [च] भी अकर्मकरण मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं, यह जाना जाता है।

प्रवास के अवसर पर यजमान यथासमय आशीर्वचन-मन्त्रों के प्रयोग का संकेत करनेवाले वाक्य सुने जाते हैं। जैसा कि कहा—‘इह एव सन् तत्र सन्तं त्वाग्ने !’—हे अग्ने ! यहाँ प्रवास में होता हुआ भी मैं वहीं पञ्चूह्न में विद्यमान तुम्हारा उपस्थान करता हूँ; तुम्हारे समीप स्थित हूँ, ऐसा अनुभव करता हूँ। इसका कारण है—अग्निहोत्र की यथाकाल व्यवस्था करके यजमान का प्रवास में जाना। कहा है—‘यजमानः संविधाय सोऽग्निहोत्राय प्रवसति’ यजमान यथाकाल दैनिक अग्निहोत्र की सुचारु व्यवस्था करके प्रवास करता है। यजमान के प्रवास-काल में पत्नी अथवा शिष्य उस कार्य को सम्पन्न करते हैं। उनकी स्थिति ऋत्विक् जैसी नहीं होती; वर्योंकि वे परिकीर्त नहीं हैं। प्रवास में यथा ऋत्विक् ऐसा नहीं कर सकता; वर्योंकि ऋत्विक् संज्ञा व्यक्ति की तभी होती है, जब वह कर्मानुष्ठान में संलग्न हो। यजमान प्रवास में भी ‘इदमग्नये इदन्न मम’ का यथा-काल ध्यान करता हुआ अन्त में अकर्मकरण मन्त्रों का उच्चारण करता है। यह शास्त्रीय व्यवस्था इस तथ्य को पुष्ट करती है कि अकर्मकरण-मन्त्र यजमान-सम्बन्धी हैं ॥१६॥ (इति आयुर्दादिमन्त्राणां याजमानताऽधिकरणम्—६)।

(द्व्याम्नात्स्योभ्यप्रयोज्यताधिकरणम्—७)

दर्श-पूर्णभास प्रसंग के दो काण्डों—आध्वर्यव काण्ड और याजमान काण्ड—में आज्यग्रहण और सुख्यूहन के कठिपथ मन्त्र पठित हैं। आज्यग्रहण का मन्त्र है—‘पञ्चानां त्वा वाताना यन्त्राय धत्रिय गृह्णामि’; सुख्यूहन का मन्त्र है—‘वाजस्य मा प्रसवेन’ [यजु० १.७।६३] इत्यादि। ये दोनों मन्त्र आध्वर्यव काण्ड में भी पठित हैं और याजमान काण्ड में भी। याजुष संहिताओं में पठित आध्वर्यव काण्ड का ही एक भाग याजमान काण्ड है, इसी वेद के कारण ये दो काण्ड कहे हैं। तैत्तिरीय संहिता [१।६।१] में जहाँ आज्यग्रहण-मन्त्र पढ़े हैं, वह याजमान काण्ड कहाता है। सुख्यूहन का तात्पर्य है—सुचों—जुह और उपभूत—को मन्त्रोच्चारणपूर्वक विविध दिशाओं में ले-जाना। जुह को पूर्व में वेदि के दक्षिण-भाग तक और उपभूत को पश्चिम में वेदि के उत्तर-मध्य भाग तक चलाना या ले-जाना—प्रेरित करना। इसकी क्रिया इस प्रकार है—अनुयाज कर्म के अनन्तर अध्वर्युवेदि के उत्तर में आकर यथास्थान सुचों को रखकर यजमान के साथ जुह को ऊपर उत्तान दक्षिण हाथ से ग्रहण करता है। इसी प्रकार नीचे बाएँ हाथ से नीचे से उपभूत को अध्वर्यु यजमान ग्रहण करते हैं। पत्पश्चात् दोनों पूर्व की

और जुहू का अगला भाग करके उसे वेदि के पूर्व दिशा के दक्षिणभाग-पर्यन्त प्रेरित करते हैं। इसी प्रकार उपग्रह-को पश्चिम में अग्रभाग करके पश्चिम में वेदि के उत्तर-मध्यभाग-पर्यन्त प्रेरित करते हैं। यह कर्म सुग्रूहन कहाता है।^१

आज्यग्रहण और सुग्रूहन के मन्त्र समान रूप से आध्वर्यवकाण और याजमान-काण में पठित हैं। इनमें सन्देह है—क्या ये कर्म अध्वर्यु और यजमान दोनों के द्वारा सम्मिलित रूप में किये जाने चाहिए? अथवा दोनों में से किसी एक के द्वारा अलग-अलग? प्रतीत होता है, समाख्या के अनुसार आध्वर्यवकाण में पठित आज्यग्रहण-कर्म को अध्वर्यु करे, तथा याजमान काण में पठित सुग्रूहन को यजमान करे। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने सिद्धान्त-पक्ष प्रस्तुत किया—

द्वचाम्नातेषुभौ द्वचाम्नानस्यार्थवत्वात् ॥१७॥

[द्वचाम्नातेषु] दो—आध्वर्यव और याजमान काणों में पठित मन्त्रों के उच्चारण में [उभी] अध्वर्यु और यजमान दोनों समान व्यधिकारी हैं, [द्वचाम्नानस्य] दो काणों में पढ़े गये अथवा दो के लिए पढ़े गये पाठ के [अर्थवत्वात्] सार्थक—सप्रयोजन होने से।

यदि आध्वर्यवकाण में पठित 'आज्यग्रहण' मन्त्र का पाठ केवल अध्वर्यु करता है, तो वहाँ सुग्रूहन-मन्त्र का पठित होना निरर्थक हो जाता है। इसी प्रकार याजमान काण में पठित सुग्रूहन-मन्त्र का प्रयोग यदि केवल यजमान करता है, तो वहाँ आज्यग्रहण-मन्त्र का पठित होना निष्प्रयोजन रह जाता है। इसलिए दोनों काणों में पठित मन्त्रों का प्रयोग अध्वर्यु और यजमान दोनों को सम्मिलित रूप से करना चाहिए, यद्यपि इन दोनों का अपना-अपना प्रयोजन भिन्न होता है। अध्वर्यु मन्त्र का प्रयोग इस भावना से करता है कि 'मैं इस मन्त्र से प्रकाशित कर्म अनुष्ठान करूँगा'—यही उसका प्रयोजन है। यजमान की मन्त्र-प्रयोग में यह भावना रहती है कि मन्त्रोच्चारण करने से 'मैं अन्यमनस्कतास्प प्रमाद से बचा रहूँगा'—यही उसका प्रयोजन है। इस प्रकार दोनों काणों में दोनों के लिए पठित मन्त्रों की सार्यकता बनी रहती है ॥ १७॥ (इति द्वचाम्नानस्योभ्यप्रयोज्यताधिकरणम्—७) ।

(अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम्—८)

तीक्ष्णरीय संहिता [१७६] के वाचपेय याग प्रकरण में कतिपय 'आयुर्वेदन

१. इसका सप्रमाण विस्तृत विवरण युधिष्ठिर मीमांसकहत शाब्दर भाष्य के इसी प्रसंग के हिन्दी व्याख्यान में द्रष्टव्य है।

कल्पताम्' इत्यादि आशीर्वचन-मन्त्र पठित हैं। इनमें प्रतिमन्त्र 'कल्पताम्' पद का प्रयोग हुआ है। इस पद से जिस आशीः की प्रार्थना यजमान करता है, उसको ही 'कलृप्ति' पद से आपस्तम्ब श्रौतयूत [१८।४।१६] में 'कलृप्तीर्यजमानं वाचयति' रूप से कहा है—कलृप्तियाँ यजमान को बुलवाता है। तात्पर्य है—उन मन्त्रों का उच्चारण यजमान से करवाता है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता के अगले ११३० अनुवाक में 'अग्निरेकाक्षरेण वाचमुदजयत्' इत्यादि रूप से १७ संहिता तक प्रति-मन्त्र उत्त-उपसर्गपूर्वक जयार्थक 'जि' वातु के 'उदजयत्' त्रियापद का प्रयोग हुआ है। उसी को लक्ष्य कर आग ० श्रौ० [१८।४।१६] में 'उज्जिनीर्यजमानं वाचयति' पढ़ा है, यजमान को उज्जितियाँ बुलवाता है, अर्थात् यजमान से उन मन्त्रों का उच्चारण करवाता है।

यहीं सन्देह होता है—क्या जानकार और अजानकार (ज + अज) सद्वको में मन्त्र बुलवाने चाहिए? अथवा केवल जानकार यजमान को? इस विषय में कोई विशेष कथन न होने से सभी को मन्त्र बुलवाना प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में आचार्य सुशकार ने सिद्धान्त-प्रस्तुत किया—

ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥

[ज्ञाते] जानकार=विद्वान् यजमान के विषय में [च] ही [वाचनम्] मन्त्र बुलवाना कहा है, [हि] क्योंकि [अविद्वान्] अजानी मूर्ख व्यक्ति [विहितः] यज्ञ कर्म में अधिकृत [न-अस्ति] नहीं है। कर्मानुष्ठान में विद्वान् का ही अधिकार है।

वाजपेय याग के प्रकारण में जिन मन्त्रों का उच्चारण यजमान से कराये जाने को लिखा है, वह विद्वान् यजमान द्वारा किया जाना ही सम्भव है। अधीत-बेद व्यक्ति ही विद्वान् कहा जाता है। कर्मानुष्ठान गृहस्थ=द्वितीयाश्रमी होने पर किया जाता है। प्रथम आथ्रम ब्रह्मचर्यकाल में वेदाध्ययन आवश्यक है। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इत्यादि वचन इसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं। तब कर्मानुष्ठान में अविद्वान् को अवसर कहा है?

यदि किसी ने प्रमादवश ब्रह्मचर्य-काल में वेदाध्ययन नहीं किया है, तो निश्चित ही क्रियमाण कर्म के विषय में उसे नितान्त भी जानकारी नहीं है; तब वह कर्मानुष्ठान कर ही नहीं सकता। वह कर्मानुष्ठान-काल में बोले जानेवाले वाक्यों तथा मन्त्रों का जुद्ध उच्चारण भी नहीं कर सकता। अशुद्ध उच्चारण उलटा अनर्थकारी होता है। सुख-सुविधाओं के लिए किया जानेवाला कर्म उससे विपरीत प्रतिकूलताओं का अवार लगा देता है। ऐसी दशा में अविद्वान् का कर्म ही नहीं, तो उसे मन्त्र बुलवाने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए ठीक ही कहा है कि वेदज्ञ विद्वान् ही यजमान हो। वही कलृप्ति, उज्जिति मन्त्रों को बुलवाने

योग्य होता है ॥१८॥ (इति अभिज्ञस्यैव वाचयितव्यताधिकरणम्—६) ।

(द्वादशद्वन्द्वानामां आध्वर्यवत्वाधिकरणम्—६)

दर्श-पूर्णमास प्रकरण के याजमान काण्ड में कतिपय १२ जोड़े के रूप में कर्म कथित हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. 'वत्सं चोपावसृजति, उसां चाधिश्यति'—गाय दुहने के लिए अध्वर्यु बछड़े को सूटी से खोलकर छोड़ता है, और दूध गरम करने के लिए बटलोई को गाहैपत्य अग्नि पर चढ़ाता है ।

२. 'अब च हन्ति, हषदुपले च समा हन्ति'—धान कूटता है, और सिल-बट्टे को ढाँचता है ।

३. 'अविच च वपते, कपालानि चोपदधाति'—पीसने के लिए सिल पर चाबल रखता है, और कपालों को आग पर चढ़ाता है ।

४. 'पुरोडाशं चाधिश्यति, आज्यं च'—पुरोडाश को पकाने के लिए तप्त कपालों पर रखता है, और आज्य को अग्नि पर पिंवलाता है ।

५. 'स्तम्बयजुश्च हरति, अभिच च गृह्णाति'—वेदि बनाये जाने के स्थान से मिट्टी व कूड़े-करकट (=स्तम्बयजु) को हटाता है, और आग्नीध उसे अञ्जलि में ले दूर डालता है ।

६. 'वेदिच परिगृह्णाति, पत्नीं च सन्नहृति'—वेदि को स्पथ से रेखा द्वारा अद्वित करता है, और योक्त्र = जोत से पत्नी को बांधता है, अर्थात् पत्नी की कमर में जोत बांधता है ।

७. 'प्रोक्षणीश्चासादयति, आज्यं च'—स्पथ से अद्वित रेखा पर प्रोक्षणी को रखता है, और उसी रेखा पर आज्य को रखता है ।

'एतानि द्वादशद्वन्द्वानि दर्श-पूर्णमासयोः' दर्श-पूर्णमास प्रकरण के याजमान काण्ड में ये दो-दो के जोड़े में साध-साध किये जानेवाले १२ जोड़े कर्म पढ़े हैं । यत्पि सात जोड़ों में यहाँ १४ कर्म कहे हैं, पर आचार्य साधण के विचार से प्रथम अनुवाक में पठित दण यज्ञसम्बन्धी आगुधों के दो-दो के जोड़े में पांच युग्म और मिलाने से जोड़ों की १२ संख्या का सामन्जस्य बताया गया है (द्रष्टव्य तै० सं० ११६.१६ का साधण-भाष्य) । इसके विपरीत आचार्य भट्टभास्कर ने १२ जोड़ों के सामन्जस्य का आधार उक्त सन्दर्भ में १२ क्रियाओं का निर्देश है । वे क्रियाएँ हैं—(१) उपावसृजति, (२) अविश्यति, (३) अवहन्ति, (४) तमाहन्ति, (५) अविवपते, (६) उपदधाति, (७) अविश्यति, (८) हरति, (९) अभिगृह्णाति, (१०) परिगृह्णाति, (११) सन्नहृति, (१२) आसादयति । इन क्रियाओं से सम्बद्ध कर्मों की अपेक्षा से १२ जोड़ों की कल्पना साधार समझी चाहिए । औपचारिक रूप से इन्होंको द्वादश द्वन्द्व अर्थात् १२ जोड़े कहा गया है ।

यहाँ जो कर्तव्य कर्म बताये गये हैं, उनमें सन्देह है—क्या ये कर्म यजमान द्वारा किये जाएँ? अथवा अध्वर्यु के द्वारा? याजमान काण्ड में पढ़े जाने के कारण यही प्रतीत होता है कि ये कर्म यजमान द्वारा किये जाने चाहिए।

आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ को पूर्वपञ्चरूप में प्रस्तुत किया—

याजमाने समाख्यानात् कर्माणि याजमानं स्युः ॥१६॥

[याजमाने] याजमान काण्ड में पठित होने पर [समाख्यानात्] याजमान संज्ञा के सामन्यस्य से [कर्माणि] वत्सावर्जन आदि कथित १२ कर्म [याजमानम्] यजमान द्वारा किये जानेवाले [स्युः] होने चाहिए।

याजमान काण्ड में पढ़े जाने के कारण उक्त कर्म 'याजमान' संज्ञावाले कहे जाते हैं। याजमान समाख्या का सामन्यस्य इसी रूप में है कि उन्हें यजमान द्वारा किया जानेवाला माना जाय। अन्यत्र भी नेष्ट्रीय-पोत्रीय विशेष समाख्या के आधार पर उन कर्मों का नेष्टा-पोता द्वारा किया जाना माना गया है। वैसे ही यहाँ माना जाना चाहिए ॥१६॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपञ्च का समाधान किया—

अध्वर्युवितवर्यो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

[वा] 'वा' पद 'द्वादश कर्म यजमानकर्तृक है' इस पूर्वपञ्च की निवृत्ति का व्योतक है। [अध्वर्युः] उक्त कर्मों को अध्वर्यु करे, [हि] क्योंकि वह [तदर्थः] उस कार्य के लिए यजमान द्वारा परिस्तीत हुआ है; [समाख्यानम्] उक्त कर्मों की समाख्या प्रथम आध्वर्यंव काण्ड में पठित होने से 'आध्वर्यंव' नाम [न्यायपूर्वम्] न्यायपूर्वक है, न्याय है, उचित है।

उक्त कर्म मुहूर्य रूप से 'आध्वर्यंव' काण्ड में पढ़े गये हैं, इसलिए समाख्या भी अध्वर्युकर्तृकता का उपपादन करती है। यजमान काण्ड में इनका पाठ—जोड़े के रूप में यजमान के निर्देश से—अध्वर्यु द्वारा कराये जाने के कारण है। यजमान केवल निर्देश देता है कि उक्त कर्मों को अध्वर्यु इस रूप (जोड़े के रूप) में करे। इतने ही प्रयोजन के लिए याजमान काण्ड में इनका पाठ है। यजमानकर्तृकता प्रयोजन नहीं है। इसलिए 'याजमान' इन कर्मों की समाख्या नहीं है। इसके लिए

१. 'याजमानम्' एकवचनान्त पाठ युक्त प्रतीत नहीं होता। 'वेदाः प्रमाणम्' अथवा 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहः प्रयोजनम्' के समान इसका समाधान चिन्त्य है। लिङ्ग-विपर्यय के इन प्रयोगों में 'प्रमाण' एवं 'प्रयोजन' पद नियत लिङ्ग हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वचन-विपर्यय है; 'याजमान' पद नियत वचन नहीं है।

जो उदाहरण 'नेत्रीया-पोष्ट्रीया' समाख्या का दिया, वह विषम उदाहरण है; यहाँ लागू नहीं होता। वे उन कर्मों की विशेष समाख्या हैं; उन कर्मों को नेता-पोष्टा करेंगे। इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु यहाँ उक्त द्वादश कर्मों की समाख्या 'याजमान' है ही नहीं। उनकी 'आध्वर्यव' समाख्या शास्त्रोचित है। अतः ये कर्म अध्वर्युकर्तृक हैं, यह निश्चित है॥२०॥ (इति द्वादशद्वन्द्वानां आध्वर्यवत्वाधि-करणम्—१)।

(होतुराध्वर्यवकरणमन्त्रानुष्ठातृत्वाधिकरणम्—१०)

ज्योतिष्ठोम में अमीषोमीय पशु के यूप-सम्बन्धी परिव्ययण-कर्म में दो मन्त्र हैं—एक करणमन्त्र, दूसरा क्रियमाणानुवादी मन्त्र। कर्म करते हुए जो मन्त्र बोला जाय वह 'करणमन्त्र' कहता है। परिव्ययण-कर्म करते हुए अध्वर्यु के द्वारा जो मन्त्र बोला जाता है, वह करणमन्त्र है—'परिवीरसि परि त्वा [यजु० ८।६] आदि। तीनलड़ भानी गई रसी को यजमान की नाभि के बराबर ऊँचाई पर यूप में दाढ़ और से अध्वर्यु द्वारा लपेटना 'परिव्ययण' कर्म है। अध्वर्यु मन्त्र बोलते हुए जब यूप में रसी लपेट रहा होता है, उसी समय वेदि के उत्तर-भाग में बैठा होता 'क्रियमाणानुवादी' मन्त्र का उच्चारण करता है; इसका अन्य नाम 'अनुमन्त्रण' मन्त्र है। जो कार्य किया जा रहा है, उसी का अनुवाद करनेवाला मन्त्र है—'युवा सुवासाः परिवीत आगात्' [ऋ० ३।८।४] आदि। दोनों ऋत्विक् अपने-अपने मन्त्रों का साथ-साथ पाठ करते हैं। यह क्रिया ज्योतिष्ठोम के अमी-षोमीय पशुधर्म में गिनी जाती है। अतिदेश-वाक्य के अनुसार ये धर्म उच्छ्य आदि संस्थाओं की परम्परा से 'कुण्डपायिनामयन' में प्राप्त होते हैं, जो ज्योति-ष्ठोम का विकृति है। 'कुण्डपायिनामयन' कर्मविशेष का नाम है, यहाँ चमसों के स्थान में कुण्डों से सोमपान किया जाता है। उस कर्म में ऋत्विजों का संक्षेप कहा है—'यो होता सोऽध्वर्युः' जो होता है वह अध्वर्यु है। यहाँ सन्देह होता है—इस अवसर पर उक्त कर्म को कौन करेगा? होता या अध्वर्यु? विशेष निर्देश न होने से अनियम प्राप्त होता है; दोनों ऋत्विजों में से कोई भी करे।

ऐसी स्थिति में आचार्य सूत्रकार ने निर्णय दिया—

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां
यतो विशेषः स्यात् ॥२१॥

[विप्रतिषेध] करण-मन्त्र और अनुमन्त्रण-मन्त्र दोनों का एक ऋत्विक् द्वारा एक काल में प्रयोग का विरोध होने पर [करणः] अध्वर्यु द्वारा पाठ किया जानेवाला करण-मन्त्र—[समवायविशेषात्] होता और अध्वर्यु के समवाय में 'यो होता सोऽध्वर्युः' इस विशेष वचन से आध्वर्यव कार्य में होता के नियुक्त होने

के कारण—होता उच्चारण करे, [इतरम्] अन्य क्रियमाणानुवादी 'युवा सुवासा' मन्त्र को [अन्यः] होता के सहयोगी क्रत्विजों में से एक पढ़े, [यतो विशेषः स्थात्] जिससे यह पाठरूप विशेष कार्य हो। तात्पर्य है—होता के सहयोगियों में अर्धी, पादी, तृतीयी, जो भी कार्यान्तर में संलग्न न हो, वह उक्त मन्त्र का पाठ करे। अर्धी, पादी, तृतीयी नामों के लिए ३।७।२२ सूत्र की टिप्पणी देखें।

अतिदेश-वाक्य से—करण-मन्त्र और क्रियमाणानुवादी-मन्त्र का पाठरूप कर्म कुण्डपायिनामयन में प्राप्त होता है। इन मन्त्रों का पाठ प्रकृतियाग यथाक्रम अध्वर्यु और होता एकसाथ करते हैं। पर इस कुण्डपायिनामयन नामक विकृति-कर्म में 'यो होता सोऽध्वर्युः' इस विशेष वचन के अनुसार यह व्यवस्था है कि यहाँ अध्वर्यु का कार्य होता करता है। तब अध्वर्यु द्वारा पठयमान मन्त्र का पाठ होता करेगा। तब होता द्वारा पठयमान मन्त्र का पाठ कौन करेगा? क्योंकि दोनों मन्त्र एक व्यक्ति के द्वारा एकसाथ नहीं पढ़े जा सकते। विधि के अनुसार इनका एकसाथ पढ़ा जाना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में निर्णय किया है कि होता के सहयोगियों में से ही जो विशेष—मुख्य अथवा अन्तरङ्ग है, वह हीन मन्त्र का पाठ करे। अथवा, इनमें से जो कार्यान्तर में संलग्न न हो, वह पाठ करे ॥२१॥ (इति होतुराध्वर्यवकरणमन्वानुष्ठातृत्वाधिकरणम्—१०)।

(प्रैषप्रैषाद्ययोः पृथक्कर्तृकर्त्वाधिकरणम्—११)

दशं-पूर्णमास में कर्तिपय प्रैष पठित हैं। प्रैष का अर्थ है—आज्ञावचन अथवा प्रेरित करना—'अमुक कार्य का समय हो गया है, यह करो'—ऐसे वाक्य 'प्रैष' कहे जाते हैं। वे हैं—'प्रोक्षणीरातादय' पवित्र जल से पूर्ण पात्र लाकर रक्खो। 'इध्मार्विहृपसादय' इध्म और वर्हि को यथास्थान रखो। 'सूवं सूचश्च रामृडिद्' सूव और सूचों को साफ करो। 'पलीं सनह्या आज्येनोदेहि' पलीं को योक्त्र दौधकर आज्य के साथ लाओ। इन प्रैष-वाक्यों के विषय में सन्देह है—क्या जो व्यक्ति प्रैष देता है, वही प्रैष दिये कार्य को करता है? अथवा आज्ञा देनेवाला और आज्ञा दिये गये कार्य को करनेवाला भिन्न-भिन्न व्यक्ति होता है?

जिज्ञासा—लोक में देखा जाता है, आज्ञा देनेवाला व्यक्ति अन्य होता है, और आज्ञा दिये गये कार्य को करनेवाला व्यक्ति अन्य होता है। ऐसी स्थिति में सन्देह का अवसर कहाँ है? यह स्पष्ट है, आज्ञा देनेवाला—प्रैषकर्ता—व्यक्ति भिन्न है, तथा आज्ञा दिये कार्य को करनेवाला—प्रैषार्थकर्ता—व्यक्ति भिन्न होता है। अपने-आप ही अपने को आज्ञा नहीं दी जाती।

समाधान—यह ठीक है, लोक में प्रायः ऐसा देखा जाता है कि प्रेरक और प्रेयं भिन्न व्यक्ति होते हैं। पर कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि कार्य करने-वाला व्यक्ति—जब निर्धारित कार्य का समय समीप आता है, तो वह स्वयं कह

उठता है कि अमुक कार्य का समय आ गया है, उसे करो। प्रोक्षणी लाने का समय हो रहा है, प्रोक्षणी लाकर रखो। वह अपने-आप ही अपने को कह रहा है। इसमें अन्य के प्रति तम्भोधन एवं विभिन्नकार आदि अनपेक्षित होते हैं, कार्यकाल की अभिव्यक्ति का उभार अधिक होता है। ऐसी स्थिति में प्रैषकर्ता और प्रैषार्थकर्ता का एक होना सम्भव रहता है। इसलिए सन्देह का आशार स्पष्ट है।

आचार्य सूत्रकार ने सन्देह का समाधान किया—

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥

[प्रैषेषु] प्रैषों = आज्ञावाचक 'आसाद्य' आदि में [च] निश्चित [पराधिकारात्] पर = अन्य के अधिकार से, अर्थात् अन्य को ही प्रैष दिये जाने के कारण प्रैषकर्ता और प्रैषार्थकर्ता भिन्न व्यक्ति होते हैं।

प्रैष कार्य और प्रैषार्थ कार्य में भिन्न व्यक्तियों का होना आवश्यक है। इसके बिना प्रैष उपपन्न नहीं होता। कार्यकाल का समीप होना व्यक्तिभेद में बाधक नहीं है। आज्ञा या प्रेरणा दूसरे को ही दी जाती है, स्वयं को नहीं। यदि प्रैषकर्ता स्वयं कार्य करने लगे, तो प्रैष की स्थिति ही नहीं बनती। पर शास्त्र इसी रूप में प्रस्तुत करता है। फलतः प्रैष और प्रैषार्थ भिन्नकर्तृक हैं, यह निश्चित है॥२२॥ (इति प्रैषप्रैषार्थयोः पूर्वकर्तृकृत्वाधिकरणम्—११)।

(प्रैषप्रैषार्थयोर्यथाक्रममाध्वर्यवाग्नीद्धताधिकरणम्—१२)

यह ज्ञात हो गया कि प्रैषकर्ता और प्रैषार्थकर्ता भिन्न व्यक्ति होते हैं, पर यह सन्देह फिर बना है कि कौन ऋत्विक् प्रैषकर्ता हों? और कौन प्रैषार्थकर्ता?

प्रैष का विधान आध्वर्यवेद = यजुर्वेद में है। आध्वर्यवेद में विहित कर्मों को करनेवाले दो ऋत्विक् हैं, एक—अध्वर्य, दूसरा—आग्नीध। यहाँ सन्देह है, इनमें कौन प्रैष देवेवाला हो? और कौन प्रैषार्थ करनेवाला हो? याग-प्रसंग में अधिक कार्यकारी प्रायः अध्वर्यु देखा जाता है, अतः यह प्रैषार्थकारी रहे। इस अर्थ को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में सूत्रित किया—

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥२३॥

[अध्वर्युः] अध्वर्यु ऋत्विक् [तु] ही प्रैषार्थकारी जानना चाहिए, [दर्शनात्] कार्य में अध्वर्यु के देखे जाने से।

प्रैषार्थ का करनेवाला अध्वर्युऋत्विक् होना चाहिए। एक उपोद्वलक प्रमाण से जात होता है, चालू प्रसंग में प्रैषार्थकारी अध्वर्यु सम्भव है। प्रमाण है—

'तिर्यन्चं स्पयं धारयेत् यदन्वज्जचं धारयेद् वज्रो वै स्पयो वज्रो आध्वर्युक्षिष्ठोत्' स्पय को तिरछा धारण करे; यदि सामने सीधा धारण करे तो स्पय वज्र है, वज्र से अध्वर्यु को हिसित करे। जो प्रैष देता है, स्पय उसके हाथ में रहता है। स्पय से अध्वर्यु को हिसित करे। यह कथन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्रैष देनेवाला ऋत्विक् अध्वर्यु से भिन्न है। अतः प्रैषाध्यकारी अध्वर्यु होना चाहिए ॥२३॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वग्रन्थ का समाधान किया—

गौणो वा कर्मसामान्यात् ॥२४॥

[वा] 'वा' पद पूर्वसूत्रोक्त पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है; तात्पर्य है—प्रैष आग्नीध करे और प्रैषाध्यं अध्वर्यु करे, ऐसा नहीं है। [कर्मसामान्यात्] कर्म की समानता से, अर्थात् आध्वर्यव वेद में प्रतिपादित कर्मों के समान रूप से कर्त्ता होने के कारण उक्त वाक्य में [गौणः] आग्नीध के लिए अध्वर्यु पद का गौण प्रयोग है।

आग्नीध का प्रैष कर्म और अध्वर्यु का प्रैषाध्य कर्म है, यह कथन युक्त नहीं है। प्रत्युत इसके विपरीत वार्तविकता यह है कि अध्वर्यु अग्नीत् [=आग्नीध] को प्रैष देता है, वह प्रैष दिये कार्य को पूरा करता है। इस प्रकार प्रैष और प्रैषाध्य दोनों आध्वर्यव कृतकर्म के रूप में यथावत् सम्भव होते हैं। यद्यपि अध्वर्यु और अग्नीत् दोनों समान रूप से आध्वर्यव वेद-प्रतिपादित कर्मों के कर्त्ता हैं, परन्तु समाल्या (अध्वर्यु संज्ञा) के आधार पर जिस ऋत्विक् का अध्वर्यु नाम है, वह मुख्य कर्ता है। उसके मुख्यत्व का आधार उसकी यह संज्ञा है। इसलिए प्रैष अध्वर्यु देता है, और अग्नीत् उसे कार्यरूप में परिणत करता है। इससे दोनों का आध्वर्यव कर्मकर्तृत्व उपपन्न होता है। इसी समानता के आधार पर 'तिर्यन्चं स्पयं धारयेत्' आदि वाक्य में 'अध्वर्यु' पद गौणी वृत्ति से अग्नीत् के लिए प्रयुक्त हुआ है। फलतः प्रैषकर्म अध्वर्यु का और प्रैषाध्यकर्म अग्नीत् का मान्य है, यह सिद्ध होता है। ॥२४॥ (इति प्रैषप्रैषाध्योर्यथाक्षमाध्वर्यवाग्नीध्रताधिकरणम्—१२)।

(करणमन्त्रेषु स्वामिफलस्याशास्मिद्विव्यताधिकरणम्—१३)

दर्श-पूर्णमास प्रसंग में पाठ है—'ममान्ने वर्चो विहवेष्वस्तु, इति पूर्वमग्निगृह्णाति' हे अग्ने ! तुम्हारे अनुश्रूत से यज्ञों में मेरा वर्चव होवे, मैं वर्चस्वी =

१. 'ममान्ने वर्चो विहवेष्वस्तु' यह मन्त्र का प्रतीक है। यह मन्त्र [ऋ० १०।१२।१; अथर्व० ५।३।१; तै० सं० ४।७।१४।१] में पठित है। अगला पाठ 'इति पूर्वमग्निगृह्णाति' मन्त्र के साथ [मैत्रा० सं० १।४।५] में पठित है।
२. 'विहव' पद लोक में युद्धवाचक प्रयुक्त होता है, जहाँ विरोधी वर्ग परस्पर

कान्तियुक्त—आभावान् बनूँ। दर्श-पूर्णमास कर्म के पहले दिन के कार्यों में गार्हण्य अग्नि से अग्नि लेकर आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित किया जाता है। उसी कार्य में ‘ममाग्ने वर्चों’ आदि मन्त्र विनियुक्त हैं। उससे अगले दिन आहवनीय में यजन किया जाता है। गार्हण्य से आहवनीय का समिन्धन = प्रज्वलन अध्वर्यु ऋत्विक् करता है। इसमें सन्देह है—‘ममाग्ने वर्चों विहवेष्वस्तु’—हे अग्ने ! मेरा वर्चस् यज्ञों में होवे’ क्या यह वर्चस्-फल की आशंसा = चाहना अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए है ? अथवा यजमान के लिए ? तात्पर्य है, यजन से होनेवाले वर्चस्-फल की आशंसा अध्वर्यु-सम्बन्धी है ? अथवा यजमान-सम्बन्धी ?

आपाततः यही प्रतीत होता है कि यह फल की आशंसा अध्वर्यु के लिए होनी चाहिए, क्योंकि वही ‘ममाग्ने वर्चों’ आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करता है। मन्त्र में ‘मम’ का प्रयोग यह स्पष्ट करता है कि मन्त्र का उच्चारण करते हुए अध्वर्यु अपने लिए ‘मेरा वर्चस् होवे’ यह आशंसा करता है।

आचार्य सूक्तकार ने इसी अर्थ को पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत किया—

ऋत्विक्-फलं करणेष्वर्थवत्वात् ॥२५॥

[करणेषु] करण-मन्त्रों में [ऋत्विक्-फलम्] अध्वर्यु ऋत्विक् के फल की आशंसा है, [अर्थवत्वात्] ऋत्विक् के फल की कामना में आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करनेवाले अध्वर्यु में मन्त्रपतिं ‘मम’ पद के सार्थक होने से ।

आहवनीय अग्नि को प्रज्वलित करते हुए अध्वर्यु उक्त मन्त्र का उच्चारण करता है। मन्त्र में पठित ‘वर्चों मयास्तु’ से स्पष्ट होता है, मन्त्र का उच्चारणकर्ता ‘मम’ कहकर वपने लिए वर्चस् की कामना करता है। ऐसा मानने पर श्रुति-बोधित प्रसिद्ध अर्थ स्वीकृत होने से श्रुति आदृत होती है, तथा अध्वर्यु-कथन सार्थक होता है। यदि ‘मम’ पद अध्वर्यु को न कहकर यजमान को लक्षित करे, ‘मम यजमानस्य वर्चोस्तु’ मेरे यजमान का वर्चस् हो, तो प्रसिद्ध अर्थ का त्याग होवा है तथा लक्षणा वृत्ति से अप्रसिद्ध अर्थ की कल्पना करनी होती है, जो शास्त्रीय दृष्टि से दोष है। इसलिए वर्चस् की आशंसा अध्वर्यु-सम्बन्धी है, यह मानना युक्त होगा ॥२५॥

संघर्ष के लिए एक-दूसरे का स्पर्धापूर्वक—आह्वान करते हैं। मन्त्र के ‘विहव’ पद में ‘वि’ उपसर्ग ‘विरुद्ध’ अर्थ में न होकर ‘विशेष’ अर्थ को प्रकट करता है—जहाँ विशेष ह्य से विविध देवताओं का स्पर्धारहित आह्वान किया जाता है। इस प्रकार यौगिक प्रक्रिया से ‘विहव’ पद यहाँ यज्ञ का वाचक है।

आचार्यं सूत्रकारं ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥२६॥

[वा] 'वा' पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति का दोतक है। तात्पर्य है, उक्त मन्त्र में अध्वर्यु के फल की आशंसा नहीं है, प्रत्युत [स्वामिनः] स्वामी—यजमान के फल की आशंसा है, [तदर्थत्वात्] दर्श-पूर्णमास कर्म के यजमान के लिए होने के कारण; उसके अन्तर्गत अग्निप्रज्वलन-कर्म भी यजमान का ही है। इसलिए मन्त्र में 'मम' पद 'मेरे यजमान का' बोधक है।

आहूवनीय अग्निप्रज्वलन के अवसर पर वर्चस् की प्रार्थना यजमान-सम्बन्धी है, अध्वर्यु-सम्बन्धी नहीं। अपने अङ्गभूत कर्मों के सहित दर्श-पूर्णमास-कर्म यजमान के लिए हैं। 'दर्श-पूर्णमासाद्यां यजेत् स्वर्गकामः' वाक्य में 'यजेत्' आत्मने-पद किया का प्रयोग कर्त्ता को क्रियाफल होने का बोध कराता है। अग्निसमिधन दर्श-पूर्णमास का अङ्ग है; उस अवसर पर की गई फल की आशंसा यजमान के लिए उचित व समव्यजस हो सकती है। यज्ञ के फल स्वर्गादि का भोक्ता यजमान है, अध्वर्यु नहीं। इसलिए अग्निसमिधन से वर्चस् की आशंसा यजमान के लिए सम्भव है। 'मम' पद के सामञ्जस्य के लिए ऐसा मानना भी आवश्यक नहीं है कि मन्त्र का उच्चारण यजमान करे और अग्निसमिधन भले ही अध्वर्यु करे। अग्निसमिधन और मन्त्रोच्चारण एक ही व्यक्ति के द्वारा किया जाना शास्त्रीय है। समाख्याता के आधार पर कर्म के आधर्यव—यजुवेदविहित—होने के कारण अध्वर्यु द्वारा उसका होना शास्त्र-सम्मत है। अध्वर्यु यजमान द्वारा परिक्रीत क्रियाकारी ऋत्विक् है। वह क्रिया करेगा, पर उसके फल से सम्बद्ध नहीं होगा। वह परिक्रय में निर्णीत केवल अपने पारिश्रमिक शुल्क का अविकारी होता है। जहाँ किसी पद का अभिधावृत्ति-बोधित अर्थ सम्भव नहीं होता, वहाँ लक्षणावृत्ति से अर्थबोध दोषावह नहीं माना जाता। यह वास्तविकता है कि अग्निसमिधन के अवसर पर मन्त्रोच्चारण करते हुए अध्वर्यु की यह भावना कदापि नहीं रहती कि विहृव—यज्ञ में वर्चस् मेरा हो। वह अन्तरात्मा से यजमान के वर्चस् की कामना करता है। मन्त्र इसी कामना को बताता है। यदि शास्त्रिक व्यवहार को महत्व देते हुए यह अर्थ लक्षणावृत्ति से बोधित होता है, तो इसमें कोई दोष नहीं है।

अग्निसमिधन और करण-मन्त्र का उच्चारण, दोनों कार्य यजमान ही करे तो 'मम' पद के सामञ्जस्य की कोई समस्या नहीं रहेगी,—ऐसा कहना विडम्बनामात्र है। वस्तुतः जो व्यक्ति यज्ञक्रिया के सुचारु रूप में सञ्चालन में परिनिष्ठित होते हैं, उन्हीं को ऋत्विजों के रूप में परिक्रीत किया जाता है। यदि यजमान ही वह सब करे, तो परिक्रय की आवश्यकता ही नया है? यजमान के

परिनिष्ठित होने पर भी यागसम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य-कलाप का—एक व्यक्ति के द्वारा सुचाह रूप में—सञ्चालित करना सम्भव न होने से ऋत्विक् के रूप में अन्य याग-विशेषज्ञ व्यक्तियों का परिक्रम्य व वरण यजमान को करना ही पड़ता है। फलतः अष्टवर्षी के द्वारा अग्निकार्य करने पर भी उस अवसर की फलकामना यजमान-सम्बन्धी ही होती है, यह निश्चित सिद्धान्त है॥२६॥

इसी अर्थ की पुष्टि में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

लिङ्गदर्शनात् ॥२७॥

[लिङ्गदर्शनात्] आशी के विषय में कहा गया है—‘यां वै काङ्गन ऋत्विज आशिषमाशासते यजमानस्यैव सा’ ऋत्विक् जन जिस किसी आशी की चाहना करते हैं, निश्चित रूप से वह यजमान की होती है।

यह वाक्य स्पष्ट करता है, ऋत्विजों द्वारा की जानेवाली आशी की कामना यजमान के लिए ही होती है। प्रत्येक ऋत्विक् इस तथ्य को जानता है कि हम जो क्रिया कर रहे हैं, वह पूर्णरूप से यजमान के लिए है। करण-मन्त्र में की गई आशीर्वाद की कामना भी यजमान के प्रयोजन को सिद्ध करती है। इसलिए वर्चस्-फल यजमान-सम्बन्धी है, यह जाना जाता है॥२७॥ (इति करणमन्त्रेषु स्वामि-फलस्याशासितव्यताधिकरणम्—१३)।

(करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विधर्मताधिकरणम्—१४)

यह जानने पर मी कि करण-मन्त्रों में यजमान के फल की आशंसा की जाती है—सन्देह बना रहता है कि क्या यह सावधिक नियम है? अथवा इसका कोई अपवाद नी है? हाँ, अपवाद है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्वात् ॥२८॥

[तु] ‘तु’ पद पूर्वाधिकरण में कहे सिद्धान्त के अपवाद का द्योतक है। [कर्मार्थम्] यागरूप कर्म की निर्बाध सम्पन्नता के लिए जो [फलम्] आशीर्वाद फल है, वह [तेषाम्] उन ऋत्विजों का है, जो याग में कार्यकारी हैं, उनके [स्वामिन प्रति] स्वामी—यजमान के प्रति [अर्थवत्वात्] अर्थवान्—प्रयोजन-वान् होने से। तात्पर्य है, आशी-फल से स्वस्थ-नीरोग ऋत्विक् यजमान के याग-कर्म को निर्बाध सम्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

ऋत्विजों के फल की आशंसा भी शास्त्र में देखी जाती है, जहाँ वह फल मुख्य कर्म की सिद्धि के लिए होता है। जैसे वाक्य है—‘अनाविष्णु मा वामत्-क्रमिषम्, विजिहायां मा मा सन्ताप्तम्’ हे अग्नि और हे विष्णु देवो! मैं आपका अतिक्रमण न करूँ, मुझे दोनों के मध्य से जाने के लिए पृथक् रहें, मुझे आप दोनों

सन्तप्त—दुखी न करें। यह आशंसा अध्वर्यु अपने लिए करता है। सन्ताप या कष्ट में न रहता हुआ ही अध्वर्यु सुचारू रूप से कर्म कर सकता है। वह यजमान का याग करते हुए अपने-आपको किसी कष्ट में पड़ने से बचाने के लिए प्रार्थना कर रहा है। अध्वर्यु के सुखी-स्वस्थ रहने से कर्म का सुचारू रूप से सम्पन्न होना यजमान का उपकारक है। इसलिए यहाँ ऋत्विक् के 'स्वस्थ-नीरोग रहने'-फल की आशंसा उचित है।

यह अपने लिए अध्वर्यु की आशंसा किस अवसर की है, और इसीलिए कितनी उचित है, निम्नांकित विवरण से स्पष्ट हो जाता है—

"आहवनीय अग्नि के दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में परिधि (=वाहूपरि-माण पलाश की ३ इधम = समिधा) रखी जाती है। इनमें मध्यम परिधि पश्चिम वाली है। उसके अग्रभाग में अग्नि वर्तमान है। आहवनीय के पश्चिम में वेदि के मध्यस्थित स्तुक् के अग्रभाग में यज्ञरूप विष्णु (यज्ञो वै विष्णुः) है, क्योंकि स्तुक् के अग्रभाग से आहुति देने से विष्णुरूप यज्ञ सम्पन्न होता है। स्तुक् वेदि में प्रस्तर पर रखी जाती है, अतः अध्वर्यु आधार होम के लिए प्रस्तर का दक्षिण पैर से अतिक्रमण करता है=लाघता है, अर्थात् आहवनीय अग्नि के और प्रस्तर पर रखे स्तुक् के अग्रभाग में विद्यमान यज्ञरूप विष्णु का अतिक्रमण न होवे, इसके लिए अध्वर्यु 'अग्नाविष्णू' मन्त्र से अग्नि और विष्णु से कहता है—हे अग्नि और विष्णु देवो ! मैं आपका अतिक्रमण न करूँ, अर्थात् आप मुझे जाने के लिए मार्ग देवें, इत्यादि (द्र०—त० स० १।१।१२; आप० थौत २।१३।७ तथा दोनों के भाष्य)" (यु० मी०) ॥२८॥

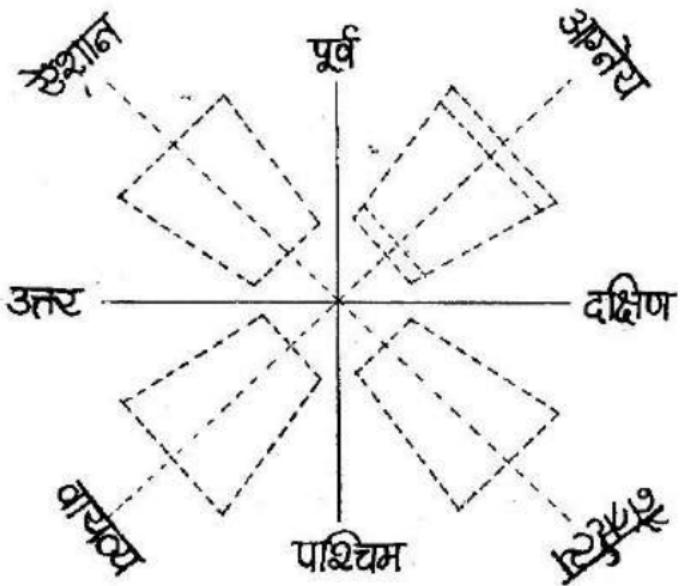
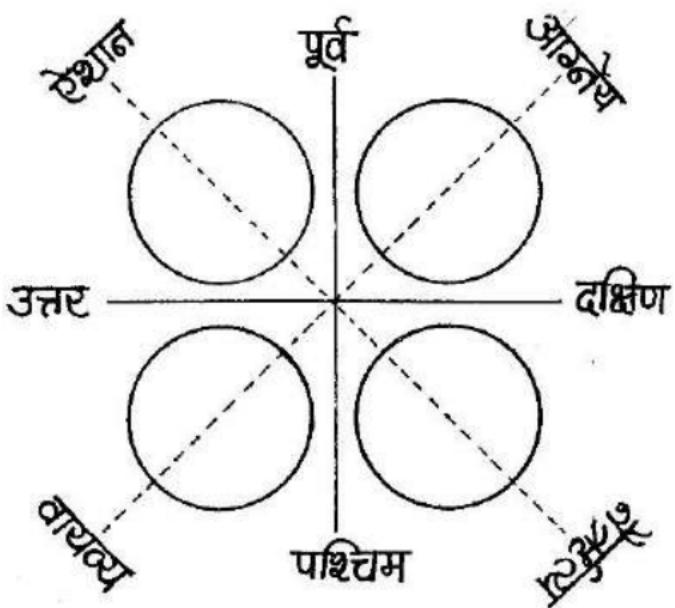
आचार्य सूत्रकार ने अध्वर्यु फल की आशंसा के अन्य प्रसंग का निर्देश किया—

व्यपदेशाच्च ॥२९॥

[व्यपदेशात्] व्यपदेश—क्वचित् कथन से [च] भी ऋत्विक् के फल की आशंसा जानी जाती है।

हृषिर्धनि-शक्ट (जिस पर सोम लाया जाता व रक्खा रहता है) के नीचे आधे पूर्व-भाग में आमने-सामने लगभग दस अंगुल के फ़ासले से चारों उपदिशाओं में चार गड्ढे इस प्रकार खोदे जाते हैं कि भीतर की ओर वे मिल जाएं, पर उनके मध्य का ऊपरी भाग वैसा ही बिना उखड़ा बना रहे। मीमांसा में इन गड्ढों का पारिभाषिक नाम 'उपरब' है। ये गड्ढे ऊपर से गोलाकार होने चाहिए, जिनकी गोलाई में मध्य रेखा द-६ अंगुल के लगभग रहे। गहराई एक बालिशत के लगभग रहे। ऊपर से गोलाकार खोदने के विषय में मतभेद है। वे गड्ढा आयताकार रूप में खोदना बताते हैं।

उपरव



सूत्रकार ने बताया, जहाँ ऋत्विक्-सम्बन्धी फल की आशंसा का साक्षात् निर्देश है, वहाँ वैसा ही स्वीकार करना चाहिए। उपरव-संज्ञक गड्ढे के एक ओर यजमान और दूसरी ओर अध्वर्यु अपने-अपने हाथ आमने-सामने से उपरव में भीतर डालकर मिलते हैं। तब अध्वर्यु यजमान से पूछता है—‘किमत्र ?’ यहाँ क्या है? यजमान कहता है—‘मद्रम्’—कल्याण है। तब अध्वर्यु उत्तर देता है—‘तन्नौ सह’ वह हम दोनों का साथ होवे। इसमें ‘नौ’ पद से अध्वर्यु और यजमान दोनों का निर्देश है। ‘नौ’ पद ‘अस्मद्’ शब्द के बछड़ी द्विवचनान्त ‘आवयोः’ का स्थानीय है, जिसका अर्थ है—हम दोनों का। यहाँ अध्वर्यु-यजमान दोनों के कल्याण-फल की आशंसा के कथन में अध्वर्यु के फल की आशंसा स्पष्ट निर्दिष्ट है।

उपरव में हाथ डालने की व्यवस्था इस प्रकार है—प्रथम आग्नेय कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डाले, तथा सामने के वायव्य कोण के उपरव में यजमान हाथ डाले। तदनन्तर पूर्वोक्त प्रश्नोत्तर करें। अनन्तर उसी प्रकार तैर्हत्य कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डालता है, तथा ऐशान कोण के उपरव में यजमान हाथ डालता है। अब पहले यजमान पूछता है—‘अध्वर्योः किमत्र ?’ हे अध्वर्यु! यहाँ क्या है? अध्वर्यु उत्तर देता है—‘भद्रम्’। इसके उत्तर में यजमान कहता है—‘तन्मम’ वह मेरा हो। ऐसे प्रसंगों के करणमन्त्रों में जो ऋत्विक् के फल की

१. इसके लिए देखें—कात्यायन श्रौतसूत्र, दा४।२६-दा४।१८ तक ‘उपरव’-सम्बन्धी प्रकरण।

याग-प्रसंग में यह कार्य मिथ्या आडम्बर-सा प्रतीत होता है। सम्भव है, उपरव को याग के फल स्वर्ग का प्रतीक मानकर ये प्रश्नोत्तर हों। याम-क्रिया के संचालन में भागी होने से अध्वर्यु के पारिश्रमिक दक्षिणा-प्राप्ति के रूप में उसके भद्र फल को स्वीकार किया गया। पर याग के फल स्वर्गरूप भद्र का अधिकारी केवल यजमान है। यह भावना अभिव्यक्त करना उक्त क्रिया का प्रयोजन सम्भवतः रहा हो, पर ऐसी भावनाभिव्यक्ति ‘उपरव’ के बिना भी सम्भव है। प्रतीत होता है, इस छंग की क्रियाओं ने यागकर्म को एक आडम्बर का रूप दे दिया। इन क्रियाओं की व्यवस्था के सम्बन्ध में विभिन्न श्रौत सूत्र परस्पर विरुद्ध कथन करते हैं। ऊपर जो क्रम दिखाया, वह कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार है। इसके विपरीत आपस्तम्ब श्रौत-सूत्र [१११२।३] आग्नेय कोण के उपरव में यजमान का हाथ डालना बताता है, तथा वायव्य कोण के उपरव में अध्वर्यु का। दोनों के हाथ मिलने पर यजमान अध्वर्यु से पूछता है—‘हे अध्वर्यो !’ किमत्र ? अध्वर्यु

बासंसा है, उसका प्रयोजन—ऋत्विक् के स्वस्थ-नीरोग रहने के कारण—कर्म की निर्वाध सम्पन्नता है,—ऐसा जाना जाता है ॥२१॥ (इति करणमन्त्रेषु कर्मार्थफलस्य ऋत्विग्मर्माधिकरणम्—१४) ।

(द्रव्यसंस्कारस्याङ्गप्रधानार्थताऽधिकरणम्—१५)

दर्श-पूर्णमास में बहिं और वेदि के धर्म पठित हैं। इनमें सन्देह है—क्या ये धर्म अङ्गकर्म और प्रधानकर्म दोनों के लिए हैं? अथवा केवल प्रधानकर्म के लिए? दर्श-पूर्णमास प्रधान कर्म हैं। उसी प्रकरण में पठित होने के कारण इन्हें केवल प्रधानकर्म का धर्म मानना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने बताया—

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥३०॥

[द्रव्यसंस्कारः] विभिन्न द्रव्यों का जो संस्कार कहा है, वह [प्रकरण-विशेषात्] अङ्गभूत कर्म और प्रधान का कोई विशेष प्रकरण न होने के कारण [सर्वकर्मणाम्] अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के धर्म हैं।

यह प्रकरण प्रधानकर्म का है, और यह अङ्गभूत कर्म का, ऐसा किसी प्रकरणविशेष का क्यन न होकर दर्श-पूर्णमास के सामान्य प्रकरण में द्रव्यों के धर्म पढ़े हैं। इसलिए वे धर्म अङ्ग और प्रधान सभी कर्मों के विषय में समझने चाहिए।^१ बहिं के धर्म हैं—काटना, बाँधना, लाकर वेदि पर बिछाना आदि।

कहता है—‘मद्रमिति’। अनन्तर यजमान कहता है—‘तनौ सह’। अनन्तर ऐशान कोण के उपरव में यजमान और नैऋत्य कोण के उपरव में अध्वर्यु हाथ डालता है। अब यजमान अध्वर्यु से पूछता है—‘किमत्र’? अध्वर्यु का उत्तर है—‘भ्रम्’। तब यजमान कहता है—‘तन्मम’।

श्रीत सूत्रों का यह परस्पर-विरुद्ध क्यन उपरव की मूलभूत बास्तविकता पर सन्देह के आक्रमण को प्रेरित करता है। कात्यायन का क्रम अधिक सूत्रानुसारी है, क्योंकि वहाँ ऋत्विक् के फल का निर्देश ऋत्विक्-मुख से कराया है, जबकि दूसरे क्रम में विपरीत है। यह क्रियाकलाप किसी अदृष्टविशेष का जनक हो, ऐसी कल्पना भी उपहासास्पद प्रतीत होती है।

१. ‘बहिं’ इकारान्त पद अमरकोश में अपठित है। आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में इसे ‘कुश’ पद का पर्यायवाची बताया है। ‘कुश’ और ‘दम्’ समानार्थक पद हैं; ‘दम्’ हिन्दी में ‘दाम’ बोला जाता है। कुश का हिन्दी में वही रूप है। इससे ज्ञात होता है, दाम अथवा कुश घास का अन्य नाम बहिं है। इस घास का अप्रभाग तीखा होता है।

वेदि के धर्म हैं—रेखा से चिह्नित करना, उपयुक्त साधन (ईट, शुद्ध रेता आदि) से उसे बनाना, उचित स्थान पर बिछाये गये वर्ष्ण पर हविद्रव्यों का रखना आदि। इस प्रकार का द्रव्य-संस्कार प्रत्येक कर्म में करना अपेक्षित होता है। इसी अध्याय के सातवें पाद के प्रारम्भिक पाँच सूत्रों में यही सिद्धान्त निश्चित किया है। यह सामान्य सिद्धान्त है। यहाँ इसका सन्निवेश आगे प्रतिपाद्यमान करिष्य अपवाद बताने की भावना से किया गया है ॥३०॥ (इति द्रव्यसंस्कार-स्याङ्गप्रधानार्थताधिकरणम्—१५) ।

(अपूर्वप्राकृतधर्माणां विकृतावसम्बन्धाधिकरणम्—१६)

ज्योतिष्ठोम में अभ्नीषोमीय पशु का उल्लेख है—'यो दीक्षितो यदग्नी-षोमीयं पशुमालभते' जो दीक्षित हुआ व्यक्ति अग्नि और सोम देवतावाले पशु का आलभन करता है। उस प्रसंग में वाक्य है—'बर्हिषा यूपाक्टमवस्तृणाति' वर्हि घास से यूप के गड्ढे को ढाँपता है, अथवा यूपगर्त पर वर्हि घास डालता है। अन्य वाक्य है—'आज्येन यूपमनक्तिं' आज्य से यूप को आंजता है, अर्थात् चिकना करता या चुपड़ता है। इनमें सन्देह है—यूपगर्त को ढकने के लिए जो वर्हि और यूप को आंजने के लिए जो आज्य है, क्या उनमें—प्रकृतिभूत दर्श-पूर्णमास में कहे गये—वर्हि-आज्य धर्म करने चाहिए? अथवा नहीं करने चाहिए?

ये वर्हि के धर्म हैं—जंगल में जाकर काटना (=लवन), बांधकर लाना (=सम्भरण), जल से धोना (=प्रोक्षण), यथास्थान गतं पर रखना (=सन्नहन) आदि। आज्य के धर्म हैं—पिचलना (=विलापन), आग पर से उतारे गये आज्य को पत्नी के द्वारा देखना (=पत्न्यदेक्षण), आवश्यकता होने पर उसे पुनरालानना (=उत्पवन) आदि। वर्हि से यूपगर्त को ढाँपना और आज्य से यूप को आंजना, ये दर्श-पूर्णमास प्रधान याग के अङ्गभूत कर्म हैं, अर्थात् ये उनके विकृतियाग हैं। ऐसी स्थिति में यही प्राप्त होता है कि 'प्रकृतिविद्विकृतिः कर्तव्या' अतिदेश-वाक्य के अनुसार प्रकृतियाग में कहे धर्म विकृति में होने चाहिए। वर्हि और आज्य के—प्रकृतियाग में कहे—धर्म सावंत्रिक हैं। अतिदेश-वाक्य से यहाँ भी प्राप्त हैं। यह भी ध्यान देने की बात है कि पशुयाग से सम्बद्ध वर्हि और आज्य निष्प्रयोजन नहीं हैं। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

१. उत्पवन उस संस्कार को कहते हैं, जो पात्र में स्थित द्रव, द्रव्य आज्य आदि का दोनों हाथों से पवित्र-संज्ञक दो कुशाओं को परस्पर असंसृष्ट रखते (परस्पर न मिलाते) हुए पकड़कर उनसे द्रव्य के ऊपर के भाग का चलाना होता है। (यु० मी०)

निर्देशात् विकृतावपूर्वस्यानधिकारः ॥३१॥

[तु] 'तु' पद पूर्वकथन की निवृत्ति का चोतक है। तात्पर्य है—‘पूर्णगति को ढाँपने के लिए कहे गये वर्हि में प्राकृत वर्हिधर्म, तथा युपाङ्गन में प्रयुक्त आज्य में प्राकृत आज्यधर्म करने चाहिए’ यह कथन युक्त नहीं है। [अपूर्वस्य] प्रकृतिभूत याग में कहे गये अपूर्वोत्पादक द्रव्यधर्म का [विकृतौ] विकृति में [निर्देशात्] अतिदेश-वाक्य से [अनधिकारः] अधिकार नहीं होता। तात्पर्य है, प्रकृति के वे धर्म अतिदेश से विकृति में प्राप्त नहीं होते।

प्रकृति से विकृति में उन्हीं धर्मों का अतिदेश होता है, जो विकृति में प्रयुक्त होकर प्रधानकर्मजन्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहयोगी होते हैं। प्रकृतियाग में वर्हि का संस्कार प्रधानयाग की हवियों के आसादन के लिए होता है—‘वर्हिष्ठि हर्वोष्यासादयति’ ऐसे ही संस्कृत हवि से यागानुष्टान किया जाता है। यदि इस संस्कार धर्म की अपेक्षा की जाय, तो याग विगुण होकर अभिलिखित अपूर्व फल को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है। पशुयाग-सम्बद्ध वर्हि और आज्य ऐसे नहीं होते, अर्थात् अपूर्वोत्पत्ति में सहयोगी नहीं रहते। इसलिए प्रकृतिधर्मों का यहाँ अतिदेश नहीं होगा। उक्त चिदान्त दशमाध्याय प्रथम पाद के प्रथम अधिकरण में प्रतिपादित किया है।

वर्हि और आज्य के ये धर्म दर्शन-पूर्णभास प्रधान याग में कहे गये हैं; पर अनुष्टेय वर्हि होते हैं, जहाँ प्रधान याग के उपकारक हैं। जो धर्म प्रधान का उपकार करनेवाले होते हैं, उनका विकृति में अतिदेश किया जाता है। कारण यह है कि अतिदेश-वाक्य अपनी प्रवृत्ति में प्रधान कर्म की अपेक्षा करता है, धर्म की अपेक्षा नहीं करता। अतिदेश-वाक्य की ऐसी समानता प्रधान कर्म के साथ है, द्रव्यधर्मों के साथ नहीं।

कहा जा सकता है, यदि अतिदेश-वाक्य से प्रकृतिगत द्रव्यधर्म विकृति में यहाँ नहीं आते, तो सान्निध्य से जा सकते हैं; ऐसा क्यों न माना जाय? प्रकृतियाग के सान्निध्य में ही विकृतियाग पठित हैं, तब प्राकृत धर्मों की प्राप्ति विकृति में माननी चाहिए।

ऐसा कहना भी युक्त नहीं है। समीपपठित पद भी जब अन्य प्रयोजनवाला होता है, अर्थात् अन्य से सम्बद्ध होता है, तो समीपपठित पद के साथ भी उसकी एकवाक्यता नहीं होती; जैसे—‘भार्या राजः पुरुषो देवदत्तस्य’ में घण्ठचन्त ‘राज’ पद की, समीपपठित भी पुरुष के साथ एकवाक्यता नहीं होती, क्योंकि ‘पुरुष’-पद का सम्बन्ध देवदत्त के साथ है। इसलिए यहाँ इन पदों का परस्पर समाप्त नहीं होता, फिर दूरस्थित के साथ सम्बन्ध का अवसर ही नहीं।

किसी का भी अञ्जभाव प्रधान की अपेक्षा से जाना जाता है। यदि प्रधान

को अपने उपकार के लिए उस कर्म की अपेक्षा है, आवश्यकता है, तो वह कर्म प्रधान का अङ्ग माना जायगा। केवल अतिदेश अथवा सामीप्य से किसी कर्म का अङ्गभाव सिद्ध नहीं होता। प्रधानकर्म में वहि का प्रयोजन—‘हविद्वय का उतपर रखना’ है। आज्य का प्रयोजन ‘होम’ है। परन्तु पशुयाग से सम्बद्ध वहि और आज्य के ये प्रयोजन नहीं हैं। इसलिए प्रकृतिगत धर्मों की प्राप्ति वहाँ नहीं होगी।

यदि प्रधान कर्म के उपकार की अपेक्षा कर अतिदेश-वाच्य या सामीप्य से प्रकृतिगत द्रव्य-धर्मों का विकृति में सन्तुष्टि माना जाता है, अर्थात् विकृतियाँ प्रधान कर्म की अपेक्षा न कर धर्ममात्र की अपेक्षा करती हैं, तो प्रकृति-विकृति उभय के ये साधारण धर्म हो जाएंगे। उस अवस्था में आवश्यक ‘ऊह’ अनुपपन्न अनावश्यक होगा। तब सौर्य याग में ‘अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि’ मन्त्र में ‘अग्नये’ पद के स्थान में ‘सूर्याय’ पद का ऊह नहीं होगा, क्योंकि हविनिर्वाप-धर्म प्रकृति-विकृति का साधारण है। यदि हविनिर्वाप-धर्म को प्रधान का उपकारक मानें, तो आग्नेय याग में ‘अग्निः’-पद-घटित मन्त्र से किया गया हविनिर्वाप आग्नेय याग में उपकारक होगा। सौर्य याग में ‘अग्निः-पद-घटित मन्त्र से किया गया हविनिर्वाप सौर्य याग का उपकारक न होगा। हविनिर्वाप को सौर्य याग का उपकारक बनाने के लिए ‘सूर्यः’-पद-घटित मन्त्र से हविनिर्वाप करना होगा। ‘सूर्यः’-पद-घटित कोई मन्त्र हविनिर्वाप का नहीं है। इसलिए ‘अग्निः’-पद के स्थान में ‘सूर्यः’-पद का ऊह करना पड़ता है—‘सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि’ ऐसा मन्त्रस्वरूप बनाकर सौर्य याग में हवि का निर्वाप करना होता है। फलतः द्रव्य-धर्मों को प्रकृति-विकृति उभय का साधारण धर्म मानने पर ऊह की आवश्यकता न रहने से सौर्य याग में ‘अग्नये त्वा’ मन्त्र से हविनिर्वाप सौर्य याग का उपकारक न होगा, जो अनिष्ट है। इसलिए विकृति-पशुयाग में प्रयुक्त वहि एवं आज्य लौकिक ही गृहीत होते हैं। उनके लवन आदि एवं उत्पवन आदि संस्कार अपेक्षित नहीं होते ॥३१॥ (इति अपूर्वप्राकृतधर्माणां विकृतावसम्बन्धाधिकरणम्—१६)।

(विधृतिपवित्रयोः परिभोजनीयवर्द्धिषा कर्त्तव्यता-
धिकरणम्—१७)

दर्शन-पूर्णमास प्रकरण में पाठ [द्र०—आप० श्रीत० १११७] है—‘समाव-
प्रच्छिन्नलाग्नौ दर्भौ’ प्रादेशमात्री पवित्रे कुशे लम्बाई में एक-जैसे सीधे, बिना कटे-
टूटे अग्रभागवाले, प्रादेश (अंगूठे से तर्जनी तक) परिमाण के दो दर्भौं (दाढ़, कुश
धास) को ‘पवित्र’ बनाता है। इन धास की डंडियों को गूँथकर छल्ला-सा बना
लेना ‘पवित्र’ कहाता है। तपाये आज्य को हिलाकर देखने के लिए जिन दो
कुशाओं का उपयोग किया जाता है, उनको भी ‘पवित्र’ कहा जाता है। ऐसा ही

अन्य पाठ है—‘अरतिमात्रे विधृती करोति’ अरति (बैंधी मुट्ठी से कोहनी तक) परिमाण के दो दर्भों को ‘विधृति’ बनाता है।

वेदि पर बिछाने के लिए कुशा (बहिः=दर्भ) धास विधिपूर्वक तीन या पाँच मुट्ठी काटकर लाया जाता है। धास का अग्रसमाग पूर्व की ओर करके दक्षिण से उत्तर की ओर वेदि पर बिछा दिया जाता है। इसके ऊपर एक आस्तरण (धास का बिछाना) और होता है, जिसके ऊपर आज्य में सना जुहूपात्र आहुति के अनन्तर रख दिया जाता है। कर्म सम्पन्न होने पर यह ऊपर का बिछा धास आहुवनीय में ढाल दिया जाता है। इसपर जुहू रखके जाने से यह आज्य से सना रहता है। नीचे वेदि पर बिछे धास के साथ ऊपर का बिछावन मिल न जाय, इसके लिए दोनों के बीच में दो कुशा अरति-परिमाण आड़ी करके बिछाई जाती हैं। उहों का नाम ‘विधृति’ है। क्योंकि यह ऊपर के बिछावन को नीचे के वेदि-बिछावन से अलग करके धारण किये रखती है।

इन ‘पवित्र’ और ‘विधृति’ के विषय में सन्देह है—इन्हें बनाने के लिए क्या विधिपूर्वक काटकर लाये गये संस्कृत धास का उपयोग करना चाहिए? अथवा अन्य कुशा धास का?

यागसम्बन्धी कार्य में संस्कृत कुशा का प्रयोग होना चाहिए। पवित्र और विधृति यागसम्बन्धी कार्य हैं, अतः उनके लिए संस्कृत कुशा का उपयोग प्राप्त होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥३२॥

[श्रुतिविशेषात्] वचनविशेष से [विरोधे] विरोध होने पर [शेषे] वेदि-स्तरण से वचे अन्य कार्य—पवित्र व विधृति आदि कार्य में [च] भी [व्यक्तः] संस्कार-वर्मरहित बहिः यथण किया जाता है।

वेदि को कुशा से आच्छादन करने के लिए वचनविशेष है—‘त्रिधातु पञ्चधातु वा वहिषा वेदि स्तृणाति’ तीन मुट्ठी अथवा पाँच मुट्ठी कुशा से वेदि को ढकता है। जो कुशा वेदि-आच्छादन के लिए विधिपूर्वक काटकर लाया जाता है, उक्त वचन के अनुसार उसका विनियोग वेदि-आच्छादन में ही हो सकता है, अन्य कार्य—पवित्र-विधृति आदि में नहीं। यदि उस कुशा का उपयोग इन कार्यों में किया जाता है, तो उक्त वचनविशेष के साथ इसका विरोध होगा। वचन में स्पष्ट वेदि स्तृणाति पद है; यहाँ पवित्र अथवा विधृति का कोई संकेत नहीं है। अन्य भी कोई ऐसा वचन नहीं है, जिससे यह जाना जाय कि वेदि-आच्छादन के लिए लाये गये कुशा का पवित्र व विधृति के रूप में उपयोग हो सकता है। इसलिए जो कुशा वेदि-आच्छादन में विनियुक्त है, उसका कोई अंश अन्य कार्य के उपयोग में नहीं लाया जा सकता। फलतः जैसे पूर्वोक्त यूप के गढ़े को ढकने के लिए

असंस्कृत वर्हि का उपयोग किया जाता है, ऐसे यहाँ भी पवित्र व विधृति कार्य में असंस्कृत वर्हि का ग्रहण किया जाता है। असंस्कृत वर्हि को प्रस्तुत प्रकरण में 'परिमोजनीय' नाम दिया गया है।

उक्त वाक्य में 'त्रिधातु, पञ्चधातु' पद क्रियाविशेषण हैं। क्रिया-विशेषण नपुंसकलिङ्ग एकवचनान्त होता है, जैसा यहाँ प्रयुक्त है। 'धातु' पद आधारभूत अर्थ को अभिव्यक्त करता है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक वाद्यमय में अनेकत्र 'त्रिधातु' पद का प्रयोग हुआ है। उन स्थलों के अनेक प्रसंगों में 'त्रिधातु' पद से जगद्रचना के मूलभूत आधार 'सत्त्व-रजस्-तमस्' तत्त्वों का संकेत किया गया जात होता है। अभिवानशास्त्र व्याकरण में भी व्यवहार्य नाम-पदों के निर्वचन के आधारभूत शब्द-समुदाय को 'धातु' नाम से कहा गया है। स्वयं 'धातु' पद में धारणार्थक 'धा' धातु प्रयुक्त है। प्रस्तुत प्रसंग में भी 'धातु'-पद आधारभूत अर्थ को अभिव्यक्त करता प्रतीत होता है। वेदिपर जो कुशा विलाया जाता है, वह अन्य यज्ञिय कार्यों का आधारभूत है ॥३२॥ (इति विधृतिणवित्रयोः परिमोजनीयवर्हिषा कर्त्तव्यताधिकरणम्—१७)।

(प्राकृतपुरोडाशादीनां निधानाधिकरणम्—१८)

ज्योतिष्ठोमप्रसंग में पाठ है—‘पुरोडाशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति, धाना आश्विनपात्रे, पयस्यां मंत्रावहणपात्रे’^{१२}—पुरोडाश के टुकड़े को इन्द्र-वायु देवता के पात्र में रखता है, धान की खोलों को आश्विन (आश्विनी देवता के) पात्र में, तथा पयस्या (सीर) को मित्र-वरण देवता के पात्र में। यहाँ संशय है—क्या पुरोडाश-शकल आदि का विशेष देवताओं के पात्रों में निधान (रखाना) प्रकृत पुरोडाश आदि का होता है? अथवा अन्य पुरोडाश आदि का? इस विषय में कोई विशेष निर्देश न होने के कारण किसी भी पुरोडाश आदि का निधान-कर्म प्राप्त होने पर, आवार्य सूत्रकार ने बताया—

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥३३॥

[तु] 'तु' पद संशक्त है, विकल्प के उस पक्ष की व्यावृत्ति का द्योतक है, जिसमें यह कहा गया है कि अन्य पुरोडाश आदि से निधान-कर्म किया जाय। तात्पर्य है—अन्य पुरोडाश आदि से निधान-कर्म नहीं करता चाहिए। यहाँ चालू

१. 'त्रिधातु' पद-विषयक विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है—हमारी रचना 'सांख्य रिद्वान्त' पृष्ठ ३७१ से प्रकरण की समाप्ति तक।
२. वाक्यों के लिए द्रष्टव्य है—आप० श्री० १२२५६॥ कात्या० श्री० ६।१।२३॥

प्रसंग में विचमान पुरोडाश के [एकदेशस्थ] एक उपयुक्त भाग का [अपनयः] उसके अपने स्थान से हटाया जाना कहा है, [विचमानसयोगात्] वर्तमान चालू याग में उपयोग के अनन्तर वचे 'पुरोडाश शकल' के साथ द्वितीया विभक्ति (पुरोडाशशकलं... निदधाति) का संयोग होने से।

किसी वर्तमानकालिक किया से सम्बद्ध विचमान द्रव्य में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है, अनुपस्थिति में नहीं। चालू याग के प्रसंग में जो पुरोडाश उपस्थित है, उसी के शकल = यामोपयोग से अवशिष्ट याग को ऐन्द्रवायव-पात्र में रखता जाता है। ऐसे ही अन्य वचे द्रव्यों = धाना व पयस्या (सीर) — जो निर्दिष्ट पात्रों में रखता जाता है। अन्यत्र भी उक्त प्रवार के प्रसंगों में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग विचमान द्रव्य में ही देखा जाता है, जैसे 'पवित्रेणाज्यमुत्पुनाति' वाक्य में पवित्र से वर्तमान आज्य का उत्पबन किया जाता है, अन्य अनुपस्थित आज्य का नहीं। ऐसे ही चालू वर्तमान याग में उपस्थित पुरोडाश के उपयुक्त भाग से वचे हुए अंश (= शकल) को निर्दिष्ट पात्र में रखने जाने का कथन है।

यहाँ जिजासा है—चालू प्रहृतियाग में पुरोडाश कौन-सा है? अर्थात् किस द्रव्य से तैयार किया गया पुरोडाश यहाँ प्रकृत है? प्रसंग-प्राप्त है?

ज्योतिष्ठोम छह दिन में अनुष्ठेय याग है। ५वाँ दिन प्रधान सौम आहुतियों का है, जो तीन सवनों के रूप में दी जाती है—प्रातःसवन, माघ्यन्दिन सवन, तृतीय सवन। इसी के अनुसार दिन का 'मुत्त्वा' नाम भी है। पारम्परिक आचार्यों के निर्देशानुसार इस दिन यामसम्बन्धी जो पशु उपस्थित किया जाता है, उसके मांसखण्ड से जो पुरोडाश तैयार होता है, वह पशु-पुरोडाश ही प्रकृत में अभिप्रेत है। मैत्रायणी संहिता [३।६४।५] में पाठ है—'वपया प्रातःसवने प्रचरन्ति, पुरोडाशेन माघ्यन्दिने सवने, अङ्गूस्तृतीयसवने' वपा से प्रातःसवन में, पुरोडाश से माघ्यन्दिन सवन में, अङ्गू से तृतीय सवन में आहुतियाँ दी जाती हैं। यह सवनीय पशु मेष (= मेंढा) होता है।

वैदिक वाड्मय के यागीय प्रसंगों में जहाँ साधारण रूप से हृवि-द्रव्यों का उल्लेख किया गया है, वहाँ मांस-हृवे का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। हृवि-द्रव्य के रूप में जिन द्रव्यों का नाम लेकर उल्लेख हुआ है, वे हैं—धाना, करंभ, पुरोडाश, पयस्या, आमिका आदि। इनमें एक नाम 'पुरोडाश' है। पुरोडाश उपादान-द्रव्य को पीसकर ही बन सकता है। मीमांसा-साहित्य के पशुयाग-प्रसंगों में प्रायः सर्वत्र 'पशुपुरोडाश' पद का प्रयोग देखा देता है। क्या इसका यह अर्थ सम्भव है कि 'पशु-मांस से तैयार किया गया पुरोडाश'? पर मांस को पीसा नहीं जा सकता। उसे निरन्तर काट-काटकर बारीक किया जाता है; उसे लौह श्लाका पर चिपकाकर भूना जाता है। यदि उसे अपूप (पुआ) की आकृति में सेककर पा

भूनकर 'पुरोडाश' का रूप दिया जाय, तो भी विना पिसे उपादान-द्रव्य से बनाया गया वह हवि शास्त्रीय दृष्टि से 'पुरोडाश' नहीं कहा जा सकता। पुरोडाश वही है, जो पिसे हुए अन्न से बनाया जाता है। किर यह सबस्त शास्त्र में उल्लिखित 'पशु पुरोडाश' क्या है?

यदि पिसे अन्न में मांस के सूक्ष्म = अत्यल्पकाय --- टुकड़े गिलाकर पुरोडाश तैयार किया जाता है, तो उसे 'पशु पुरोडाश' नहीं माना जा सकता; क्योंकि मुख्य उपादान-द्रव्य पिसा अन्न है। क्या शास्त्र में कहीं ऐसा विवाह है कि पिसे अन्न में पशुमांस मिलाकर 'पशुपुरोडाश' तैयार किया जाय? ऐसा उल्लेख कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। इससे ज्ञात होता है, 'पशुपुरोडाश' की कल्पना का शास्त्रीय आधार कुछ नहीं है। याज्ञिकों की रसनालोनुपता का ही यह ज्यवन्य परिणाम कहा जा सकता है।

मैत्रायणी संहिता [३।६।५] के पाठ में 'प्रचरन्ति' कियागद है। 'वप्या प्रातःसवने प्रचरन्ति' का अर्थ समझा जाता है, प्रातःसवन में वपा (चरबी) से आहुति दी जाती है (=प्रचरन्ति)। 'प्रचरन्ति' का 'आहुति देना' अर्थ कैसे कर लिया गया? यह चिन्त्य है। 'प्र' उपसंगूर्धक 'चर्' धातु का अर्थ प्रचार करना—घोषणा करना—क्यों नहीं? यह गति—अर्थवाता धातु है, किये जाते कार्य को गति देना, उसकी घोषणा करना; अमुक कार्य अमुक साधन द्वारा सम्पन्न हो गया,—यह घोषणा की जाती है, अथवा यह प्रचारित किया जाता है।

यज्ञ के प्रारम्भ-काल में यामानुष्ठान-अवसर पर पशु मारे नहीं जाते थे, प्रत्युत उनके स्वास्थ्य की देखभाल के लिए एकत्रित किये जाते थे। इस विषय का विस्तृत विवरण भूमिका में द्रष्टव्य है। छह-दिन-साध्य ज्योतिष्ठोग का पांचवाँ दिन अमावास्या आता है। अन्तिम तीन दिनों (= चतुर्दशी, अमावास्या, शुक्ल प्रतिपदा) में स्थानीय सब पशुओं को एकत्रित किया जाता था, यह सामाजिक व प्रशासकीय व्यवस्था थी। यामानुष्ठान कोई भी यजमान करे, पर उस अवसर पर समाज व प्रशासन के विशिष्ट मूर्दन्य व्यक्ति संगत होते थे। इस अवसर से लाभ उठाने के लिए पशुओं की स्वास्थ्य-परीक्षा का भी कार्यक्रम बना लिया जाता था। यज्ञ करनेवाले उस कार्य को करते थे। यह कार्य याम के अन्तिम तीन दिनों में सम्पन्न किया जाता था। इन तीन दिनों के द्वीच का दिन, मूर्ख होम का दिन अमावास्या रहता है। क्योंकि यह मूर्ख होम का दिन था, और इस दिन तथा इसके दोनों ओर (पहले-पीछे) के दिन पशुओं का स्वास्थ्य देखे जाने के लिए निर्धारित थे, सम्भवतः इसी कारण अमावास्या के दिन अनुष्ठित होनेवाली इष्टि का नाम 'दर्श' रख दिया गया, अथवा इस आयार पर प्रशिद्ध हो गया।

इन तीन दिनों में एकत्रित किये जानेवाले पशु भी यथात्रग तीन भागों में विभक्त थे—अग्नीषोमीय, सवनीय, अनुवन्ध्य। पहले दिन के परीक्ष्य पशु अग्नी-

पोमीय = कृषि में कार्य करनेवाले केवल वृष्टि = बलीवर्द्ध = बैल होते थे । समाज कृषिप्रचान होने से इनकी परीक्षा के लिए पहला पूरा दिन नियत था । इनकी परीक्षा, कार्य देखकर तथा अन्य अपेक्षित साधनों के अनुसार की जाती थी । इसलिए अगला अमावास्या का दिन इनके पूर्ण विश्वाम के लिए नियत था । इसी कारण आज भी उसी का प्रतीकाल्प समस्त भारत में कृषिजीवी व्यक्ति अमावास्या के दिन बैल के कार्ये पर जुआ नहीं रखता, उन्हें पूर्ण विश्वाम देता है ।

दूसरा दिन सबनीय पशुओं की परीक्षा का है । सबनीय पशु हैं—गेष-मेषी, अज-अजा, मेंढा-भेड़, बकरा-बकरी । सबन (सोमाहुति) के दिन उपस्थित होने से इनका 'सबनीय' नाम है । इनकी संख्या अधिक होती है । इनकी स्वास्थ्य-परीक्षा का स्पष्ट साधन है—देह का मोटा-ताजा, चरबीयुक्त होना । मैत्रायणी संहिता के उक्त वचन का विनियोग इसी परीक्षा में है । सर्वप्रथम उन पशुओं को अलग छाँट दिया जाता था जिनके देह मांसल, चर्बीयुक्त हैं । ये स्वस्थ-नीरोग हैं, यह घोषणा कर दी जाती थी । 'वपया प्रातःसबने प्रचरन्ति' का यही तात्पर्य है; चर्बी से आहुति देना नहीं ।

इन पशुओं में जो संदिग्ध व निश्चित रोगी समझे जाते थे, उन्हें चारे पर घेर दिया जाता था, स्वस्थ पशुओं की परीक्षा के अनन्तर । 'चर्' धातु भक्षण अर्थ में भी है । 'भाघ्यन्दिने पुरोडाशेन प्रचरन्ति' का यही अर्थ है । भाघ्यन्दिन सबन के अवसर पर उन रोगी पशुओं को चारे पर छोड़ा जाता था, यह भी उनकी स्वास्थ्य-परीक्षा का एक साधन था । वाक्य में 'पुरोडाश'-पद पशु-खाद्य का उपलक्षण व प्रतीक है । 'पशुपुरोडाश' का यही तात्पर्य सम्भव है । प्रस्तुत अधिकरण के भाघ्यनिर्दिष्ट मूल वाक्य में भी केवल 'पुरोडाश' पद है, 'पशुपुरोडाश' नहीं । पशु-मांस से बने पुरोडाश की कल्पना नितान्त निराधार है । तूतीय सबन के अवसर पर रोगी पशुओं के एक-एक अंग की परीक्षा कर उनके रोगनिवारण के उपायों की घोषणा की जाती थी । 'अङ्गस्तृतीये सबने प्रचरन्ति' का यही तात्पर्य है ।

तीसरे अन्तिम दिन 'अनुबन्ध पशु' परीक्षा के लिए लाये जाते थे, जिनमें शेष सभी पशु होते थे—गाय, बछियाँ-बछड़े, ऊंट, छोड़ा, हाथी, गधा, सच्चर आदि ।

प्रस्तुत अधिकरण में जिस पुरोडाश के ऐन्द्रवायव-पात्र में निधान का विवाह है, वह पिण्ठ अन का ही पुरोडाश सम्भव है । साथ में धाना और पयस्या में भी अन का प्राधान्य है । मांस का यहाँ संकेत भी दूर तक नहीं । उन याज्ञिकों की बुद्धि पर कैसे परदा पड़ गया था ! ॥३॥ (इति प्राकृतपुरोडाशादीनां निधान-धिकरणम्—१८) ।

(काम्येष्टिष्पांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताधिकरणम्—१६)

प्रधान काम्येष्टि प्रकरण में पाठ है—‘यज्ञार्थवर्णं वै काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्तव्याः’ अर्थादेवदसम्बन्धी यज्ञ काम्य इष्टियाँ हैं। उनका अनुष्ठान उपांशु करना चाहिए। उपांशु का तात्पर्य है—मन्त्र का उच्चारण होठों के भीतर की ओर मुँह में ही किया जाना, जो बाहर सुनाई न दे। यह आर्थवर्ण यज्ञ की रहस्य-मयता को अभिव्यक्त करता है। यहाँ सन्देह है—प्रधान काम्येष्टियों के प्रकरण में पठित उपांशुत्व-धर्म प्रधान और अङ्गभूत सभी काम्येष्टियों के लिए है? अथवा केवल प्रधान काम्येष्टियों में किया जाय? प्रधान कर्म में विहित धर्मों को अङ्गभूत कर्मों में भी उच्ची प्रकार स्वीकार किया जाता है; इसलिए यहाँ भी प्रधान काम्येष्टि-प्रकरण में पठित उपांशुत्व-धर्म प्रधान और अङ्ग सभी काम्येष्टियों में स्वीकार किया जाना चाहिए। इसी भाव को आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्षारूप में सूचित किया—

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥३४॥

[विकृती] विकृति = काम्येष्टियों के प्रकरण में पढ़ा गया [शेषः] उपांशुत्व-धर्म [सर्वार्थः] प्रधान और अङ्ग सभी काम्येष्टियों के लिए है, [प्रकृतिवत्] प्रकृति के समान। जैसे प्रकृतियाग में पठित आज्यधर्म और वेदिधर्म सभी प्रधान व अङ्ग-कर्मों में समान रूप से माने जाते हैं, वैसे यहाँ भी उपांशुत्व-धर्म सबके लिए माना जाना चाहिए।

सभी काम्येष्टियाँ ‘विकृति’-याग होती हैं। काम्येष्टियों में भी परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव अर्थात् प्रधान-अङ्गभाव रहता है। जैसे प्रकृतियाग में पठित आज्यधर्म-वेदिधर्म आदि समान रूप से विकृतियागों में स्वीकार किये जाने से सर्वार्थ हैं, ऐसे ही प्रधान काम्येष्टि-प्रकरण में पठित उपांशुत्व-धर्म-प्रधान-अङ्ग दोनों प्रकार की काम्येष्टियों में स्वीकार किया जाना चाहिए ॥३४॥

आचार्य सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का समाधान किया—

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥३५॥

[वा] ‘वा’ पद उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का वौतक है। तात्पर्य है—उपांशुत्व-धर्म प्रधान और अङ्ग उभय काम्येष्टियों का नहीं है, [मुख्यार्थः] प्रधान काम्येष्टि के लिए है। भाष्यकार शबर स्वामी ने ‘वा’ पद ‘एव’ अर्थ में माना है। तब सूत्रार्थ होगा—प्रधान काम्येष्टियों के ही लिए उपांशुत्व-धर्म है; [अङ्गस्य] अङ्ग के [अवोदितत्वात्] वाच्य द्वारा विहित न होने से।

काम्येष्टियाँ प्रधान और अङ्ग दोनों प्रकार की हैं। ‘वा: काम्या इष्टयः, ता उपांशु कर्तव्याः’ वाच्य से यह स्पष्ट होता है कि विशेष फलप्राप्ति की कामना से

जिस इष्ट का अनुष्ठान किया जाता है, उसी के साथ उपांगु इतिकर्तव्यता का सम्बन्ध है। वही प्रधान काम्येष्टि है। अङ्गभूत काम्येष्टियों का कोई अतिरिक्त फल नहीं होता। उनका अनुष्ठान प्रधान काम्येष्टि की सम्पन्नता के लिए किया जाता है। बतः उपांगुत्व-धर्म केवल प्रधान काम्येष्टियों के लिए है॥३५॥ (इति काम्येष्टिषूपांशुत्वधर्मस्य प्रधानार्थताऽधिकरणम्—१६)।

(श्येनाङ्गानां नवनीताऽज्यताऽधिकरणम्—२०)

श्येनयाग-प्रकरण में पाठ है—‘दृतिनवनीतमाज्यम्’ दृतिपात्र^१ में रक्खा हुआ नवनीत आज्य होता है। यहाँ संशय है—क्या नवनीत आज्य का आहृति आदि द्वारा उपयोग प्रधान श्येनयाग में करना चाहिए? अथवा उसके अङ्गभूत दीक्षणीय आदि इष्टियों में? प्रधान श्येनयाग के प्रकरण में पठित होने से प्रधान-कर्म में ही इसका उपयोग होना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर आचार्य शूत्रकार ने बताया—

सन्निधानविशेषादसम्भवे तदञ्जानाम् ॥३६॥

[सन्निधानविशेषात्] सन्निधान—सामीक्षिकीय से श्येनयाग में सोम की आहृतियाँ होने के कारण [असम्भवे] नवनीत आज्य का उपयोग असम्भव होने पर [तदञ्जानाम्] श्येनयाग के अङ्ग दीक्षणीय आदि इष्टियों के सम्बन्ध में नव-नीत आज्य का उपयोग युक्त है।

श्येनयाग ज्योतिष्टोम याग का विकृति है। ज्योतिष्टोम सोमसाध्य याग है। यहाँ मुख्य आहृतियाँ सोम की दी जाती हैं। ‘प्रकृतिविद्विकृतिः कर्तव्या’ प्रकृति के समान विकृति में करना चाहिए, इस अतिदेवा-वाक्य के बल से, ज्योतिष्टोम का साधन-द्रव्य सोम उसके विकृति श्येनयाग में प्राप्त हो जाता है। सूत्र में इसी तथ्य को ‘सन्निधिविशेष’ पद से कहा गया है। ऐसी स्थिति में श्येनयाग का साधन-द्रव्य सोम ही सम्भव है, नवनीत आज्य नहीं। पर वह श्येनयाग के प्रकरण में पठित है। वह पाठ निष्कल न हो, इसलिए नवनीत आज्य को श्येनयाग के अङ्ग दीक्षणीय आदि इष्टियों का धर्म मानना युक्त है, अर्थात् आहृतिस्थ परे नवनीत आज्य का उपयोग श्येन की अङ्गभूत इष्टियों में होता है। इससे प्रकरण भी

१. द्रष्टव्य—बौधा० श्रीत० २२।१७। भाग ३, पृष्ठ १४१, पंक्ति १३-१५—
‘दृति वा विनाडं वा रथ आघात परिहरेत्, यत्तत्र नवनीतमुत्सीदेत् तदाज्यं
स्यादिति’। (यु० मी०)।

२ चर्म-निष्मित पात्र का नाम ‘दृति’ है। ‘दृते: पात्रादिवोदकम्’ मनु० ३।६६॥
‘दृति जलाधार चर्मकोषाम्’, याज०स्म० ३।२६८ की व्याख्या।

बाधित नहीं होता, और इष्टियों के लिए साधनद्रव्य की आकांक्षा भी पूर्ण हो जाती है ॥३६॥

शिष्य आशंका करता है—यदि प्रधानयाग के प्रकरण में पठित धर्म को उसके अज्ञों के लिए माना जाता है, तो अग्न्याधान कर्म की इष्टियों का भी धर्म नवनीत आज्य को मानना चाहिए, क्योंकि वे भी श्येन का अज्ञ हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-आशंका को पूर्वपक्षरूप में सुनित किया—

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥३७॥

यदि प्रधान कर्म के प्रकरण में पठित धर्म को प्रधान का धर्म न मानकर, उसके अज्ञों का धर्म माना जाता है, तो [आधाने] आधान कर्म के अन्तर्गत पवमान आदि इष्टियों में [अपि] भी [तथा] उसी प्रकार नवनीत आज्य का उपयोग मानना चाहिए—[इति चेत्] ऐसा यदि कहा जाय, तो—(अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है) ।

प्रधान श्येनयाग में नवनीत आज्य का उपयोग सम्भव न होने से उसके अज्ञभूत कर्मों में उपयोग माना जाता है, तो आधान-कर्म के अन्तर्गत पवमान आदि इष्टियों में नवनीत आज्य का उपयोग मानना होगा । वे इष्टियाँ भी श्येन-याग की उपकारक होने से उसके अज्ञ हैं । पवमान आदि इष्टियों से संस्कृत किये गये अग्नि में श्येनयाग अनुष्ठित होता है ॥३७॥

आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

नाप्रकरणत्वादज्ञस्य तनिमित्तत्वात् ॥३८॥

[न] आधानगत पवमान आदि इष्टियों में नवनीत आज्य का उपयोग नहीं होता, [नाप्रकरणत्वात्] प्रकरण में न होने से । तात्पर्य है—श्येनयाग के प्रकरण में आधान का उल्लेख या प्रसंग न होने के कारण, [अज्ञस्य] अज्ञ-भाव के [तनिमित्तत्वात्] प्रकरण आदि निमित्तत्वात् होने से । तात्पर्य है—कौन किसका अज्ञ है, यह प्रकरण आदि कारणों से ही जाना जाता है ।

अग्न्याधान एवं उसके अन्तर्गत होनेवाली पवमान आदि इष्टियों का श्येन-याग के प्रकरण में कोई निर्देश नहीं है । इससे जाना जाता है कि अग्न्याधान और श्येनयाग का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं । आधान अग्नियों का होता है । भले ही उन अग्नियों में श्येनयाग होता रहे, पर आधान का सम्बन्ध श्येनयाग से नहीं है । आधान का सम्बन्ध केवल अग्नियों से है । तब आधान-कर्म तथा उसके अन्तर्गत होनेवाली पवमान आदि इष्टियों को श्येन का अज्ञ नहीं माना जा सकता । इसी कारण पवमान इष्टियों में नवनीत आज्य का प्रयोग प्राप्त नहीं होता । प्रकरण अधवा अन्य किसी प्रमाण से आधान और श्येन का

अज्ञानिग्रहाव सिद्ध नहीं है। आधान केवल अग्नि का उपकारक है; उनमें कोई भी याग हुआ करें; आधान का उनसे या श्येनयाग से कोई सम्बन्ध नहीं। फलतः श्येनयाग में पठित नवनीत आज्य का उपयोग प्रब्रान्त श्येनयाग में सम्भव न होने से उसके अज्ञ दीक्षणीय आदि इष्टियों का बहु धर्म है, यह प्रभाणित होता है॥३८॥ (इति श्येनाज्ञाना नवनीताऽज्ञ्यताऽधिकरणम्—२०) ।

(सर्वेषामेव श्येनाज्ञानां नवनीताऽज्ञ्यताऽधिकरणम्—२१)

छह-दिन-साप्त्य ज्योतिष्टोम का पांचवाँ दिन सोमाभिष्व वा होता है। सोमलता को कृट छान सोम निकालकर उसी की मुख्य आहुतियाँ दी जाती हैं। सोमाभिष्व वा कारण इसका नाम 'सुत्यादिन' भी है। यहाँ सन्देह है—क्या सुत्यादिन होनेवाले श्येनयाग के अज्ञभूत कर्मों में ही नवनीत आज्य का उपयोग होता है? अथवा सब काल के श्येनयागीय अज्ञकर्मों में? इसका निर्णय करने के लिए आचार्य सूत्रकार ने प्रथम पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया—

तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥३९॥

[तत्काले] सुत्यादिन में होनेवाले श्येनयाग के अज्ञभूत कर्मों का [वा] ही धर्म होता है—नवनीत आज्य; [लिङ्गदर्शनात्] लिङ्ग—प्रमाण के देखे जाने से।

ज्योतिष्टोम के चौथे दिन अग्नीष्ठोमीय पशुओं का, पांचवें दिन सवनीय पशुओं का, छठे दिन अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन कहा गया है। परन्तु श्येनयाग के प्रसंग में अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन 'सह पशूनालभते' इस वचन के अनुसार सुत्यादिन के सवनीय पशुओं के साथ आलभन माना गया है। इससे जाना जाता है कि जो श्येनयागीय अज्ञकर्म सुत्यादिन में किये जाते हैं, उन्हीं में नवनीत आज्य का उपयोग होना चाहिए, श्येनयाग के सब कालों में होनेवाले अज्ञकर्मों में नहीं।

अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन साधारणरूप से ज्योतिष्टोम के अस्तिम छठे दिन माना जाता है। परन्तु श्येनयागीय अनुबन्ध्य पशुओं का आलभन—उक्त विशेष वचन से सुत्यादिन में आलभनीय सवनीय पशुओं के साथ होना—बताया गया है। यह इस तथ्य में प्रमाण है कि नवनीत आज्य सुत्यादिन के श्येनयागीय अज्ञकर्मों का ही धर्म है, अन्यकाल में होनेवाले अज्ञकर्मों का नहीं॥३९॥

आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

सर्वेषां वाऽविशेषात् ॥४०॥

[सर्वेषाम्] श्येनयागीय सब अज्ञकर्मों का [वा] ही धर्म है—नवनीत

आजः; [अविशेषात्] उस विषय में कोई विशेष निर्देश न होने के कारण।

श्येनयाग के सभी अङ्गकर्मों का धर्म है—नवनीत आज्य। चाहे वह अङ्ग-कर्म सुत्यादिन में हो, चाहे अन्य काल में। श्येनयाग-प्रसंग में जहाँ नवनीत आज्य हवि का निर्देश किया गया है, वहाँ कोई ऐसा विशेष कथन नहीं है, जिससे यह जाना जाय कि श्येनयाग के अमुक अङ्गकर्मों में आज्य का उपयोग होना अभीष्ट है, अमुक में नहीं। अतः किसी विशेष कथन के न होने से प्रस्तुत विषय में सामान्यतः प्राप्त कार्य का बाध नहीं होता। ज्योतिष्ठोम के चौथे दिन अर्नी-षीमीय पशुओं के आलमन के अवसर पर पुरोडाश की आहृतियाँ अङ्गकर्मों में दी जाती हैं। छठे दिन अनुबृद्ध पशुओं के आलमन के अवसर पर पश्यस्या की। ‘सह पशूनालभते’ वाक्य से पुरोडाश और पश्यस्या की अपने स्थानों से निवृत्ति होकर सवनीय पशुयाग का सुत्याकाल प्राप्त होता है। पर ‘दूतिनवनीतमाज्यम्’ के विषय में कोई ऐसा वाक्य नहीं है, जिससे इसे सुत्याकालिक अङ्गकर्मों तक ही सीमित भाना जाय। फलतः श्येनयाग के सभी अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य का आहृतिरूप में उपयोग होता है।

शिष्य जिज्ञासा करता है—अविशेष क्यों है? पूर्वपक्षसूत्र में ‘लिङ्गदर्शन’ विशेष कहा तो है। उसका समाधान होना चाहिए। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥४१॥

[न्यायोक्ते] न्यायानुसार कहे गये अर्थ के विषय में [लिङ्गदर्शनम्] लिङ्ग-दर्शन अकिञ्चित्कर है।

शास्त्रीय व्यवस्था का नाम ‘न्याय’ है। जो कथन न्यायानुसार होता है, वह किसी अन्य प्रकार से बाधित नहीं होता। यद्यपि वाक्य से लिङ्ग बलबान् होता है, पर ‘दूतिनवनीतमाज्यम्’ वाक्य ज्योतिष्ठोम-प्रकरण श्येनयाग-प्रसंग में पठित है। समस्त प्रकरण के अङ्गकर्मों में उपयोग के लिए उसका विधान है। यह वाक्यप्रकरण से अनुमोदित है। इसलिए लिङ्ग इसका बाधक न होगा।

इसके अतिरिक्त ‘सह पशूनालभते’ वचन केवल सहालम्भन का बोध करता है। अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य के उपयोग से इसका कोई विरोध नहीं है। सहालम्भन-वचन से पूर्वपक्ष का यह समझना कि नवनीत आज्य का उपयोग केवल सुत्याकालिक अङ्गकर्मों के लिए है—नितान्त भ्रम है। न सहालम्भरूप लिङ्ग और अन्य कोई ऐसा प्रभाण उपलब्ध है, जिससे यह प्रमाणित हो कि नवनीत-आज्य केवल सुत्याकालिक श्येनयागीय अङ्गकर्मों का धर्म है। इसलिए वाक्य और प्रकरण से यह निश्चित होता है कि ज्योतिष्ठोमीय समस्त अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य का उपयोग होता है, वर्यात् आज्य को आहृतियाँ दी जाती हैं।

प्रधान कर्म में आहुतियों के लिए सोम हविद्रव्य निश्चित है।

पशु-आलभन अपने ऋग में व्रथावत् होता रहता है। ज्योतिष्ठोम-अनुष्ठान के छह दिनों में प्रथम तीन दिन विविध इष्टियों के हैं। चौथे दिन अरनीयोमीय पशु का आलभन है। पाँचवें दिन सकनीय पशु तथा छठे अन्तिम दिन अबमृतेष्टि के अनन्तर अनुवर्ण्य पशुओं का आलभन किया जाता है। नवनीत आज्य का ज्योतिष्ठोमीय अङ्गकर्मों में उपयोग पशु-आलभन-क्रिया में कोई रकावट नहीं ढालता। पशुयाग से जाना गया पशु-आलभन अपने रूप में स्वतन्त्र कर्म है। ज्योतिष्ठोम-अनुष्ठान-प्रक्रिया व्रथवा अन्य दर्शण्टि आदि की अनुष्ठान-प्रक्रिया से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में हविद्रव्य के लिए गंगा-पुरोडाश की कल्पना नितान्त अशास्त्रीय है। इसका विस्तृत विवेचन [३।६।२७] सूत्र की टिप्पणी अथवा ग्रन्थ की भूमिका में द्रष्टव्य है। ॥४१॥ (इति सर्वप्रामेव इयेनाङ्गानां नवनीताऽऽग्न्यताऽधिकरणम्—२१)।

श्येनयामीय अङ्गकर्मों के होमद्रव्य नवनीत-आज्य-विषयक यह विवेचन एक विशेष परिणाम को प्रस्तुत करता है, जिससे यह जाना जाता है कि न केवल मुत्याकालिक श्येनयामीय अङ्गकर्मों में नवनीत आज्य होमद्रव्य है, अपितु मुत्याकालिक ज्योतिष्ठोमीय सभी अङ्गकर्मों का यह होमद्रव्य है। मुत्यादिन प्रधान कर्म के तीनों सबनों में प्रधान आहुतियाँ सोम की दी जाती हैं। अङ्गकर्मों में चौथे दिन होमद्रव्य पुरोडाश और छठे दिन पयस्या है। पाँचवें मुत्यादिन के ज्योतिष्ठोमीय अङ्गकर्मों का होमद्रव्य क्या होगा? यह जिज्ञासा है। श्येनयामीय अङ्गकर्मों के होमद्रव्य नवनीत आज्य को सार्वचिक माना गया, उसमें मुत्यादिन भी अन्तर्हित है। इस प्रकार श्येनयाम के माध्यम से—शेष वचे मुत्यादिन में—ज्योतिष्ठोमीय अन्य अङ्गकर्मों का भी होमद्रव्य नवनीत आज्य वताया गया, इस कारण इसे श्येनयामीय अङ्गकर्मों के लिए सीमित नहीं माना जाना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है, चौथे दिन के अङ्गकर्मों का पुरोडाश, पाँचवें दिन का नवनीत आज्य, तथा छठे दिन का पयस्या होमद्रव्य हैं। इस प्रकार ज्योतिष्ठोम के उत्तरभागीय तीन दिनों में अनुष्ठित होनेवाले अङ्गभूत कर्मों का होमद्रव्य आज्या होता है, यह निश्चित हो जाता है।

हमारा विचार है, इस अधिकरण पर यह अध्याव समाप्त हो जाता है। वर्तमान में आगे के तीन सूत्र जैमिति मुनि के पर्याप्त अनन्तर-काल में यहाँ प्रक्षिप्त किये गये। मुत्याकालिक अङ्गकर्मों में मांस को हविद्रव्य दत्तने के लिए ये तीन [४२-४४] सूत्र वहाँ जोड़े गये। इन सूत्रों की अवतरणिका में 'शावस्त्यानामयत्'-संज्ञक छत्तीस-वर्ष-साध्य सूत्र आ उल्लेख किया गया है। श्रौत सूत्रों [कात्या० २४।५।२०, तथा आपा० २३।१।११] में, इस सूत्र के हविद्रव्य के लिए 'तरसमया: पुरोडाशः' मांससिद्ध पुरोडाश का विधान उपलब्ध होता है। सत्र-

संशक कर्मो में सत्रह व्यक्ति मिलकर कार्य करते हैं। उनमें से एक यजमान बनता है, शेष सोलह ऋत्विक्। योंकि सब मिलकर कर्म को पूरा करते हैं, इसलिए सब यजमान भी कहे जाते हैं—‘यजमानात्त ऋत्विज़’ जो यजमान हैं वे ऋत्विज़ हैं। ऋत्विक् कर्म का विधान केवल ब्राह्मणों के लिए है। इसलिए सत्रानुष्ठान में मिलकर कार्य करनेवाले सत्रह व्यक्ति ब्राह्मण ही होते हैं। इस प्रकार छत्तीस-वर्ष-साध्य ‘शाक्त्यानामयनम्’ नामक सत्र-याग भी ब्राह्मणों द्वारा ही सम्पन्न होता है।

इस सत्र के हृविद्रव्य मांससिद्ध पुरोडाश के लिए मांस प्राप्त करने के विषय में आपस्तम्ब शौतसूत्र [२३।१।१२-१३] बताता है—‘संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिमृगयां याति, स यान् मृगान् हन्ति तेषां तरसाः पुरोडाशाः भवन्ति’ दैनिक कर्म-समाप्ति के अनन्तर दिन पूरा होने पर गृहपति (यजमान के रूप में कार्य करनेवाला व्यक्ति) प्रतिरात्रि निरन्तर छत्तीस वर्ष तक आखेट को जाता है; वहाँ जिन मृगों को मारता है, उनके मांस से पुरोडाश तैयार किये जाते हैं।

इस विषय में कठिपय बातें ध्यानपूर्वक विचारणीय हैं—

(१) ‘शाक्त्यानामयन’ नामक सत्र का वर्णन वैदिक संहिताओं में नहीं मिलता। उपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों में भी केवल ताण्डथ ब्राह्मण के अन्तिम भाग [२४।७।१] में इस सत्र का उल्लेख मिलता है।

(२) सत्र-याग केवल ब्राह्मणों द्वारा किये जाते हैं। ब्राह्मणों के लिए हिसा सर्वथा वर्जित है। जो सत्र अच्चर (=हिसारहित) माने जाते हैं, उस कर्म में ब्राह्मण गृहपति छत्तीस वर्ष तक प्रतिदिन निरन्तर जंगल में जाकर आखेट द्वारा मृगों को मारे, इसे कोई समझदार व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता, और न यह किसी भी तरह सम्भव है।

(३) प्रतीत होता है, इस प्रकार आखेट को बात लिखनेवाला व्यक्ति आखेट की प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञ है। जंगल में मृग कोई सूटे से बंधे हुए नहीं रहते, कि वहाँ गये और उन्हें मार लिया। आज जब बन्दूक के द्वारा शिकार (आखेट) किया जाता है, जिसमें जंगली जानवरको मारनाविधिक सुविधाजनक होता है, तब भी अनेक बार शिकारी को असफल होकर आना पड़ता है। हाँका देकर या पटर बीचकर पूरा समय प्रतीक्षा करने पर भी कभी-कभी जानवर बाढ़ पर नहीं आता। ‘मृगान् हन्ति’ प्रतिदिन बहुत-से मृगों को मारने का लेख नितान्त अव्यवहार्य एवं मिथ्या है। न मालूम, क्या पीकर लेखक ने यह लिख दाला है!

(४) आपस्तम्ब शौतसूत्र [२२।१।६] में ही अग्नीषोमीय पशु के स्थान में अग्नीषोमीय एकादशकपाल पुरोडाश का हृविद्रव्य के रूप में विधान है। इसी

प्रकार वहीं [२२।३।११ में] अनुबन्ध्य पशु के स्थान में मैत्रावरुणी आमिका^१ का विधान हविद्रव्य रूप में किया गया है। इससे जात होता है, आपस्तम्ब श्रीतसूत्र में मृगयासम्बन्धी लेख अनन्तर-काल में प्रक्षिप्त किया गया है।

(५) गत अधिकरण के अनुसार सवनीय (=सुत्याकालिक) हविद्रव्य नवनीत आज्ञा है।

(६) पुरोडाश हविद्रव्य धान-यव आदि अन्न को पीसकर बनाया जाता है। मांस-स्पष्टों का अन्न के रामान पीसा जाना सम्भव नहीं, तब 'तरसमय'—मांस का बना पुरोडाश कैसे तैयार किया जा सकता है? यदि पिसे धान-यव आदि में पके मांस का रस मिलाकर पुरोडाश तैयार किया जाता है, तो वह 'तरसमय' अर्थात् मांसमय=मांस से बना हुआ नहीं कहा जा सकता। वह तो स्पष्ट अन्नमय पुरोडाश होगा। यदि 'तरस' पद का अर्थ प्रारम्भ में मांस न होकर अन्य कुछ रहा हो, तो पुरोडाश के मांसमय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। परं उसी के साथ मृगया का उल्लेख अन्य अर्थ की सम्भावना को शिघ्रित करता है।

(७) 'शास्त्र्यानाभयनम्' के लेखक ने इसके साथ एक कथा जोड़ी है। शक्ति नामक ऋषि के वंशज 'शाक्त्य' नामक ऋषि थे। उनमें से जिस व्यक्ति ने इस सत्र की नींव रखती, अर्थात् सर्वप्रथम इसका अनुष्ठान किया, ताण्डव आत्मण में उसका नाम 'गौरिवीति' लिखा है। ऋग्वेद पञ्चम मण्डल के उनतीसवें सूक्त का ऋषि 'गौरिवीति' है। यह पद सूक्त की ग्यारहवीं कृचा में भी निर्दिष्ट है।

प्राचीनकाल में एक ऐसा समय आया, जब अपने प्रमाद आदि कारणों से लोग वेदार्थ-प्रक्रिया की परम्परागत वास्तविकता को विस्तृत कर बैठे। कलान्तर में धूनः सामाजिक जागरण का बातावरण उभरने पर तात्कालिक बुद्धिकीवी जनों ने वेद के ऐसे पदों को लक्ष्य कर अनेक कहानियाँ बना दालीं, जो पद आपाततः किसी के नाम-जैसे प्रतीत होते थे। ऐसी अनेक कथाएँ पुराणों में भरी पड़ी हैं। इस स्थिति ने वेदार्थ-प्रक्रिया का एक प्रकार से शीर्षासन-जैसा कर दिला। जो पद किसी व्यक्ति का नाम न होकर साधारण अर्थात् तर को अभिध्यक्त करते थे, उनके आधार पर वहीं मई भनमानी कहानियों के अनुसार अवैद्य का अर्थ किया जाने लगा। आचार्य साधण द्वारा किया गया वेदार्थ प्राप्तः इसी प्रकार की कहानियों पर आधारित है। 'गौरिवीति' पद के साथ ऐसी ही एक कहानी जुड़ी है।

कहानी है, शक्ति ऋषि के वंशज गौरिवीति नामक व्यक्ति ने 'यव्यावती' नदी के टट पर छत्तीस-बर्चीय सत्र का सर्वप्रथम आयोजन किया। सत्र के

१. गरम दूध में दही डालने पर उसके फट जाने से जो धना द्रव्य प्राप्त होता है, उसका नाम 'आमिका' है—तस्ये पवसि दध्यानयति सा आमिका।

'शाक्त्यानामयनम्' नाम का यही आधार है। उसने इस सत्र का अनुष्ठान कर अनेक अभिनवित ऋद्धियाँ प्राप्त कीं, और दश पुत्रों को प्राप्त किया। जो कोई व्यक्ति इस सत्र का अनुष्ठान करता है, वह भी उक्त फलों को प्राप्त करता है।

निघण्टु [१।११] के अनुसार 'गौरी' वाणी का नाम है; जो व्यक्ति दक्षता-पूर्वक वाणी का उपयोग करने में समर्थ हो, वह गौरवीति है। तात्पर्य है—किसी भी वाणी व्यक्ति को इस पद से कहा जा सकता है। यदि कोई व्यक्तिविशेष अपना यह नाम रख से तो भले ही रखें, पर उसका उल्लेख वेद में नहीं है; वहाँ यह पद साधारण 'वाणी' अर्थ में प्रयुक्त है। यह पद ऋग्वेद [५।२६।११] में प्रयुक्त है।

'यव्यावती' पद ऋग्वेद [६।२७।६] में है। वहाँ यह पद उस सेना के अर्थ में प्रयुक्त है, जो साधारण खाद्य लेकर शत्रु के साथ दृढ़तापूर्वक संघर्ष कर सके। ये पद वेद में अपने स्थानों में एक ही बार पठित हैं। परस्पर इनका कोई सम्पर्क अथवा अर्थात् सम्बन्ध नहीं है। पर आभिष्ठ-लोलुप याज्ञिकों ने इन पदों पर मनमानी कहानी बनाकर पुनीत यज्ञकर्म में निन्दित हिंसामूलक आभिष के प्रवेश द्वारा उसे बूचड़ाना बना डाता है।

साधण ने 'यव्यावती' पद का अर्थ कोई नदी अथवा कोई नगरी किया है। स्पष्ट है, साधण इस पद के वास्तविक अर्थ को समझने में असमर्थ रहा। साथ में यह भी लिखा कि पहली ऋचा [६।२७।५] में प्रयुक्त 'हरियूपीया' पद 'यव्यावती' का पर्याय है। साधण के इस लेख को आधार भानकर आधुनिक तथा कथित खोजियों ने 'हरियूपीया' पद को हरप्पा या हड्प्पा से जोड़ दिया है। 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:' की अन्धपरम्परा का यह अच्छा उदाहरण है।

याज्ञिकों ने 'शाक्त्यानामयनम्' की जो यह प्रशंसा की है कि यह सत्र सब ऋद्धि-सुख-सम्पदा व पुत्र-सन्तानि का देनेवाला है, यह ऐसा ही लगता है, जैसे आजकल दवा बेचनेवाले विज्ञापन द्वारा अपनी दवाओं की प्रशंसा छापा करते हैं, तथा सहक पर मजगुआ लगाकर बेचा करते हैं।

इस विवेचन के आधार पर हमारा विचार है कि चालू तृतीय अध्याय २१वें अधिकरण पर पूर्ण हो जाता है। यह 'शाक्त्यानामयनम्' की अप्रासंगिक व्यवतरणिका भाष्यकार को देनी पड़ी, क्योंकि यहाँ पहले ही मांसपोषक सूत्रों को जोड़ा जा चुका था। अप्रासंगिक इसलिए लिखा कि सोमयाग में प्रधान आहुतियाँ सोम की, और अङ्गकर्मी में पुरोडाश, नवनीत आज्य व आमिका व पयस्या की। निश्चित की जा चुकी हैं। फिर याग-सम्बन्धी शेष रहा क्या? स्पष्ट है, यह सूत्रप्रक्षेप आभिष्ठभोजी याज्ञिकों का प्रयास है।

तीन सूत्रों का अर्थ चालू परम्परा के अनुसार लिख देते हैं। उनमें पहला सूत्र कमसंख्या पर इस प्रकार है—

मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२॥

[तु] 'तु' पद पूर्वोक्त 'सब पुरोडाश मांसमय' हैं—को निवृत्ति का द्योतक है। [मांसम्] मांसमय होना [सवनीयानाम्] केवल सवनीय पुरोडाशों का जानना चाहिए, [चोदनाविशेषात्] 'तरसः: सवनीया भवन्ति' इस विधायक वाक्यविशेष के कारण।

'शाक्त्यानामयन' कर्म में कहा है—यजमान बोकेट में 'थान् मृगान् हन्ति, तेषां तरसः: पुरोडाशः: सवनीया भवन्ति' जिन मृयों को मारता है, उनके मांसमय सवनीय पुरोडाश होते हैं। यहाँ सन्देह है—यथा सवनीय पुरोडाशों और अन्य सम्भव सभी पुरोडाशों के मांसमय होने का यह विधान है? अथवा केवल सवनीय पुरोडाशों के मांसमय होने का विधान है? ऐसा कोई निर्देश नहीं है, जिससे पुरोडाश के मांसमय होने को किसी विशेष अवसर के साथ जोड़ा जाय। इसलिए सभी पुरोडाश मांसमय होने चाहिए—ऐसा प्राप्त होने पर सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र का अवतरण किया।

'तरसः: सवनीया भवन्ति' इस 'शाक्त्यानामयन'-गत विशेष निर्देश के आधार पर केवल सवनीय पुरोडाशों के मांसमय होने का यह विधान है। इससे यह प्रभाणित होता है कि केवल मृत्युकालिक बङ्गकर्मों का हविद्वय मांसमय पुरोडाश है, अन्यत्र नहीं।

'तरसः: सवनीया भवन्ति' वाक्य में पुरोडाश का अनुवाद होता है। सवनीय कौन-सी वस्तु तरस (= मांसमय) होनी चाहिए? ऐसी आकॉक्ता होने पर, पुरोडाश उपरित्यत होता है। सवनीय पद अनुवाद नहीं है, क्योंकि सवनीय पद से सवनीय-असवनीय सभी पुरोडाशों का ग्रहण नहीं हो सकता; पर पुरोडाश पद से सवनीय-असवनीय सभी पुरोडाशों का ग्रहण हो सकता है। इसलिए सवनीय पुरोडाश में धाना आदि उपादान-द्रव्य के स्थान पर मांस-द्रव्य का विधान उक्तवाक्य करता है। तात्पर्य है—पुरोडाश पद 'छत्रि न्याय' से सभी हविद्वयों का उपलक्षण है। बत: धाना आदि सभी सवनीय हविद्वय मांसयुक्त होने चाहिए॥४२॥

आशंका की गई—दूरस्थित पुरोडाश को लक्षणा से प्रस्तुत करना उचित प्रतीत नहीं होता। सूत्रकार ने आशंका को पूर्वपक्षारूप में सूत्रित किया—

भक्तिरसनिधावन्यायेति चेत् ॥४३॥

[असन्धिधो] अवधान-पठित दूरस्थित पुरोडाश पद में [भक्तिः] लक्षणा

१. सूत्रगत 'मांस' पद का अर्थ प० वार्यमुनि ने 'मांसल' किया है, और माथ = उड़द का पर्याय बताया है।

[बन्वाया] न्यायानुमोदित=शास्त्रीय दृष्टि से उचित नहीं है, [इति चेत्] ऐसा यदि कहो तो—(वह बगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है)।

वाक्य है^१—‘सदनीयानि निर्वपति—धानाः, करम्भः, परीवापः, पुरोडाशः, पयस्या’ इति । इस वचन में सबनीय और पुरोडाश पदों के बीच ‘धानाः, करम्भः, परीवापः’ पदों का अवधान है । धानाः—मूने हुए धान, अर्थात् खील । करम्भः—मूने हुए जी । परीवापः—मूने जी को पीसकर पानी मिलाकर बनाया—सतू । धान (=चावल) को पीसकर पुए के समान पकाकर बनाया=पुरोडाश । पयस्या=सीर; दूध में चावल पकाकर बनाना । ये सब हृविद्वय हैं । ये विभिन्न देवताओं के उद्देश्य से आहृत किये जाते हैं । हरिवान् इन्द्र के लिए धानाः । पूषा-युक्त इन्द्र के लिए करम्भ । सरस्वती भारती के लिए परीवाप । इन्द्र के लिए पुरोडाश । मिश्र-वरुण के लिए पयस्या^२ । विभिन्न देवताओं के लिए हृविद्वय पृथक्-पृथक् होने से स्पष्ट होता है कि पुरोडाश पद धाना आदि सभी सबनीय हृवियों का उपलक्षण नहीं है । तात्पर्य है, धाना आदि के लिए पुरोडाश पद का अवहार नहीं है । मुख्यार्थ के सम्बन्ध होने पर लक्षणा स्वीकार करना अशास्त्रीय माना जाता है । इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में लक्षणा के आधार पर धाना आदि सभी सबनीय हृविद्वयों को ‘पुरोडाश’-पद-ग्राह्य मानकर सबको मांसमुक्त समझना उचित न होगा ॥४३॥

आचार्य सूत्रकार ने आक्षंका का समाधान किया—

स्यात् प्रकृतिसिङ्गत्वाद् वैराजवत्^३ ॥४४॥

[स्यात्] पुरोडाश पद लक्षणावृत्ति से धाना आदि सभी सबनीय हृविद्वयों का ग्राहक होता है, [प्रकृतिसिङ्गत्वात्] प्रकृतियाग ज्योतिष्ठोम में ‘पुरोडाश-शैश्वरति’ [कात्या० श्रौ० ११६२] इत्यादि वाक्यों के पुरोडाश पद से धाना आदि पौजों का बोध कराने में—लिङ्ग होने के कारण, [वैराजवत्] वैराज के समान ।

प्रकृतियाग ज्योतिष्ठोम में लक्षणा वृत्ति के आधार पर पुरोडाश पद से धाना आदि सभी द्रव्यों का बोध होता है, यह ‘पुरोडाशशैश्वरति’ आदि वाक्यों से स्पष्ट

१. द्रष्टव्य—आप० श्रौत० १२।४।१॥

२. द्रष्टव्य—आप० श्रौत० १२।४।१०, १२, १३॥

३. रामेश्वर सूरि विरचित सुबोधिनी वृत्ति में अन्तिम दो सूत्र व्याख्यात नहीं हैं । इससे सन्देह होता है—कदाचित् रामेश्वर सूरि के काल तक न ये सूत्र थे, त इनपर शावर भाष्य था । इन सूत्रों और इनके भाष्य को सूरि के परबर्ती काल में भाष्य और वार्तिक ग्रन्थों में मिलाया गया ।

है। तब अङ्गकमों में पुरोडाश पद थाना आदि अन्य हृवियों का उपलक्षण नहीं होना चाहिए, यह कथन निरस्त हो जाता है। ऐसी दशा में 'तरसमयः सवनीयः पुरोडाशा भवन्ति' में भी पुरोडाश पद लक्षण से थाना आदि हृवियों का ब्राह्मक है। फलतः सदनीय सभी हृवियों मांसयुक्त हों, इसमें कोई बाधा नहीं है। इसकी वृष्टि के लिए सूत्र में 'वैराजवत्' उदाहरण दिया। इस सम्बन्ध में बाक्य है—'उक्थ्यो वैरूप्यसामा एकविशः, पोडशी वैराजसामा' ज्योतिष्ठोम की उक्थ्य संस्था वैरूप्यसाम और एकविश स्तोत्रबाली होती है, पोडशी संस्था वैराज सामबाली होती है। इन वाक्यों में प्रकृतिलिङ्ग से 'साम' पद मुख्यार्थ को छोड़कर लक्षणबोध अर्थ वैरूप्यपृष्ठ तथा वैराजपृष्ठ का बोधक है। इसी प्रकार पुरोडाश-पद-बोध थाना आदि सभी हृवियों की—मांसमयता जाननी चाहिए।

छत्तीस वर्ष में शास्य 'धाक्तयानामयनम्' सत्र के नाम से हृविद्रव्यों में मांस का जिस धीर्घानुशी से प्रवेश किया गया है, वह सत्र के उपलब्ध विवरण से भी स्पष्ट होता है। उस विषय का सन्दर्भ है—

'संस्थिते संस्थितेऽहनि भूहृपतिर्मयां याति, स तत्र यान् मृगत् हन्ति, तेऽनं तरसा: पुरोडाशः सवनीया भवन्ति।'

प्रतिदिन अनुष्टुदे कर्म की समाप्ति पर गृहपति रात में मृगया (=आखेट-शिकार) के लिए जाता है, वह आखेट में जिन मृगों को मारता है, उनके मांस से तेवार किये गये (=तरसा:) पुरोडाश सवनीय होते हैं। ज्योतिष्ठोम के पांचवें मुत्या दिन में हृविद्रव्य के रूप से उनका उपयोग होता है। तात्पर्य है, उस दिन के अङ्गकमों में उनकी (मांसमय पुरोडाशों की) जाहृति दी जाती है।

विचारणीय है, उक्त सन्दर्भ मांसभक्षणसोलुप्ता में विशिष्ट हौए व्यक्तिका लिखा हुआ ज्ञात होता है। वह आखेट-विश्वक जानकारी से नितान्त अनभिज्ञ है। सन्दर्भ में जंगली जानवर के लिए 'मृग' पद का प्रयोग किया है। इस पद का अर्थ केवल हिरन न होकर उसमें हिरन, सूअर, शशा (=खरगोल), सेही जंगल, झोख, महा (=STAG) आदि सभी आ जाते हैं। आजकाल आग्नेयास्त्र (सन्दूक आदि) के सहारे शिकार सभी जानवरों का सुगमता से हो जाता है। फिर भी जानवरों के भेद, सौसम, जंगल की स्थिति, सहयोगी व्यक्तियों के होने-न-होने के कारण जवाहर के अनुसार अनेक प्रकारों का आश्रय लेना पड़ता है। तब मुदिधार्ए होने पर भी कभी शिकार नहीं मिलता; निराश लौट आना पड़ता है। वर्ष में क्रहु के अनुसार अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जब आखेट के लिए कहीं बाहर जंगल में जाया ही नहीं जा सकता। गृहपति रात हो जाय, अथवा अम्ब कोई अनिवार्य बाधा आ जाय, तो अनेक दिनों तक भी सम्भव नहीं होगा। ऐसी दशा में छत्तीस वर्ष तक निरन्तर दूर्विदिन कर्मानुष्ठान के अनन्तर अर्थात् प्रायः रात्रि में आखेट के लिए जाने का उल्लेख नितान्त अव्यवहार्य एवं पागल-

पन है।

स्थिति के अनुसार बासेट के लिए कोई भी प्रकार अपनाया जाय, वर्षभर निरन्तर उसमें कोई भी बाधा न आये, यह सर्वथा असम्भव है। आनेयास्त्र के अभाव में आज भी भाले, बरड़े, तलवार व पोलेदार लाठियों से शिकार किया जाता है। हिरन, सूअर आदि प्रायः फसलों के सेतों में आ जाते हैं। ऐसे में ग्रामीण जनों द्वारा सूअर के शिकार का एक प्रकार बढ़ा बीमत्स है। उसमें कम-से-कम पन्द्रह-सोलह अच्छे तगड़े व्यक्तियों का होना बावश्यक है। वह प्रकार यहाँ लिखना व्यर्थ है। सारांश है, कोई भी प्रकार आसेट का हो, पुरे वर्ष निरन्तर प्रतिदिन उसमें सफलता प्राप्त की जा सके, यह नितान्त असम्भव है। फिर जंगल में जानवर सूटे से बंधे नहीं रहते कि गृहपति जाये, और मारकर ले आए।

यह अनेकत्र गत पंक्तियों में स्पष्ट किया जा चुका है—मांसमय पुरोडाश का कषन सर्वथा अशास्त्रीय है। सर्वनीय हविद्वयों की घणना में घाना, करम्म, परीवाप, पुरोडाश, पयस्या का उल्लेख मिलता है। मांस का कहीं उल्लेख नहीं है। इनमें पुरोडाश के अतिरिक्त सब द्रव्य स्पष्ट अन्तर्मय हैं। पुरोडाश भी पिसे हुए अन्न का बनाया जाता है। मांस न पीसा जा सकता है, न उसका पुरोडाश बन सकता है। पर अन्य द्रव्यों में नितान्त भी अवसर (=गृजायश) न देसकर जैसे-तैसे पुरोडाश में बलात् मांस का प्रवेश कर इन्द्रियों की विषयलोनुपता को बहलाने का निलंबन प्रयास किया गया है।

सत्र की छत्तीस वर्ष अवधि भी इसी तथ्य का प्रतीक प्रतीत होता है। छोबीस वर्ष वयस् के आस-पास जोगपूर्ण मदभरे योद्धन का उभार उमड़ पड़ता है। आगे छत्तीस वर्ष इसी योद्धन का आनन्द-रस लेने के हैं। शिकार लेलो, मांस और सोम का सेवन करो—अपना तो स्वर्ग यही है, और यही है। स्वर्ग की कामना से यज्ञों के अनुष्ठान का तात्पर्य इसी में है। मरकर क्या होगा? किसने देखा है? इस प्रकार छत्तीस वर्ष बीतने पर कभी पूरे कभी अधूरे देह-इन्द्रिय आदि शिथिल हो जाते हैं। सत्रकाल स्वतः पूरा हो जाता है। छत्तीस वर्ष के सत्रकाल का अन्य क्या प्रवृत्ति-निमित्त रहा होगा? कोई बताये। फलतः यह प्रसंग अशास्त्रीय अव्यवहार्य होने से त्याज्य है, शास्त्र का अङ्ग नहीं है।

हम जैमिनि की वकालत करना नहीं चाहते। यदि वस्तुतः ये तीन सूत्र जैमिनि-लिखित हैं, तब भी इनमें प्रतिपादित अर्थ सर्वथा अव्यवहार्य व वेदविरुद्ध होने से पूर्णतः अमान्य है।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने की बात है—यदि एक बस्ती, ग्राम या नगर में अनेक गृहपति इस सत्र का अनुष्ठान करनेवाले हों, तो छत्तीस वर्ष तक निरन्तर प्रतिदिन आसेट के लिए जंगली जानवर कहीं से आयेंगे? सन्दर्भ में 'पृगान् हन्ति' बहुवचनान्त कर्म का प्रयोग है। प्रतिदिन बहुत-से मृग मारे जाएं, तो उत्तीस वर्ष

तक उनका मिलना कहाँ सम्भव होगा ? हम स्वयं पह देखते रहे हैं, दसों-बीसों भीलों तक जो जंगल सभी तरह के जानवरों से भरे थे, वहाँ एक शिकारी परिवार के स्थायी रूप से बस जाने पर कुछ ही वर्षों में वे जंगल बेर जैसे जानवरों तक से खाली दिखाई देने लगे; अच्युत जानवरों के विषय में क्या स्थिति रही होगी ? यह स्वयं समझा जा सकता है।

इस सत्र के नाम 'शाक्त्यानाम्-अयनम्' पर भी ध्यान देना अपेक्षित है। 'शाक्त्यानाम्' में मूल पद 'शक्ति' है। केवल नाम के आधार पर वसिष्ठ-पुनर 'शक्ति' के साथ इस सत्र का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास किया गया है। पर इसके विपरीत 'शक्ति' के उपासक तान्त्रिक व वायमार्ग के अनुगामियों के साथ इसका सम्पर्क रहा हो, यह अधिक सम्भव है। वसिष्ठपुनर शक्ति का नाम लेकर उसे वेद-मार्ग पर लाने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। सुविज्ञ पाठक स्वयं गम्भीरता-पूर्वक इसपर विचार करें। ॥४४॥

इति श्री पूर्णसिंहतन्नजेन तोक्कादेवीगम्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत
 'छाता'-वासि श्रीगुणवर काशीनाथशास्त्रिपादाङ्गसेवालघु-
 विद्योदयेन, बुलन्दशहर - मण्डलान्तर्गत-पहासूपकण्ठ-
 'हनेल' शामाभिजनेन, साम्राज्यं 'गाजियाबाद' नगर-
 निवासिना, उदयबीर-शास्त्रिणा समुन्नोते
 जेमिनीयमोमांसादशंनविद्योदयभाष्ये
 त्रृतीयाध्यायस्य अष्टमः पादः ।
 सम्पूर्णश्चायं त्रृतीयोऽध्यायः ।

गुणयोदाम्बद्धनेत्र - मिते वैकमवत्सरे ।
 विशुद्धायैः समायुक्तः सम्पूर्णे माधने शनौ ॥
 आद्यत्रध्यायहृषोऽयं ग्रन्थंजाः पूर्णतामगात् ।
 परलोकयताः पुण्याः प्रीयन्तां पितृदेवताः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

यथातः कृत्वर्यपुरुषार्थं योजिज्ञासा ॥१॥

शेष-शोधीभाव के इनन्तर कृत्वर्थं तथा पुरुषार्थं की जिज्ञासा करनी चाहिए, क्योंकि वह कर्मों के प्रयोजन-प्रयोजकभाव के लिए उपयोगी है।

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थं लक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥२॥

जिस कर्म के अनुष्ठान से पुरुष को सुख प्राप्त होता है, और जिसके करने की इच्छा स्वतः ही है, उस कर्म को पुरुषार्थं कहते हैं, वह सुख का साधन कर्म से पृथक् नहीं है।

तदुत्तरार्थं कर्माणि पुरुषार्थार्थं शास्त्रस्यानन्तिक्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीव्यंते,

तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियार्थां पुरुषश्रुतिः ॥३॥

प्रीतिरूप फल की उपलब्धि न होने पर भी 'प्रजापतिद्रत' संज्ञक कर्मं पुरुषार्थं है, क्योंकि शास्त्रोक्त बात शङ्खनीय नहीं होती तथा यज्ञ का भङ्गमूल कोई भी द्रव्य उक्त कर्मों द्वारा संस्करणीय नहीं पाया जाता जिससे उनको कृत्वर्थ माना जाए और पुरुषार्थ के साथ सम्बन्ध होने से उक्त कर्मों में पुरुष-श्रवण भी चरितार्थ होता है।

अविशेषात् शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥४॥

आक्षेप— वाक्यशेष के अनुसार फलबाले समिधादि कर्मं भी पुरुषार्थं होने चाहिए, क्योंकि उनका विधायक शास्त्र भी 'प्रजापतिद्रत' संज्ञक कर्मं विधायक शास्त्र के समान है।

एष वा कारणाऽप्यह्ये तदर्थं मर्थस्याऽनभिसम्बन्धात् ॥५॥

समाप्त— श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के उपलब्ध न होने से 'प्रजापतिद्रत' संज्ञक कर्मं पुरुषार्थं माने गये हैं, प्रमाणाभाव से उनका किसी प्रधान कर्मं के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

तथा च सोकशूतेषु ॥६॥

और, जैसा ऊपर निष्पत्ति किया गया है, वैसी ही मान्यता सब लोगों में पाई जाती है।

द्रव्याणि त्वयिषोषेणाऽनर्थक्यात् प्रदीयेरन् ॥७॥

पूर्व— स्य आदि यज्ञायुध पूर्णरूपेण श्रमिन् में हृवन करने चाहिए, अन्यथा विधान व्यर्थ हो जाएगा।

स्वेन त्वयेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्समाद्याश्रुतिः स्मुः पद॥

सिं—उक्तायुधों का अपने-प्रपने कार्यों के साथ सम्बन्ध होना उचित है, क्योंकि उनका भिन्न-भिन्न कार्य विधान किया गया है, अतः श्रुति के अनुसार ही उनका विनियोग होना ठीक है।

बोधने चार्यकर्मसु ॥६॥

और, हवन-विधि के लिए पुरोडाश आदि विधान किये गये हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

तत्रैकत्वमयताङ्गमर्थस्य गुणमूतत्वात् ॥११॥

पूर्वं—यह में दान किये जानेवाले पशुओं में एक या आधिक संख्या का विचार आवश्यक नहीं, क्योंकि वह उक्त पशुओं का विशेषण होने से गौण है।

एकश्रुतित्वाच्च ॥१२॥

और, एकत्व संख्या का व्यवधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रतीयत इति चेत् ॥१३॥

कहीं-कहीं एकवचनान्त पद से एकत्व संख्या की प्रतीति भी होती है, यदि ऐसा कही तो—

नाश्रवदं तत्प्रभाणत्वात्पूर्वव्यत् ॥१४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'प्रथम दौड़ता है' कहने से जैसे द्वितीय-नृतीय का आधिक बोध होता है, वैसे ही प्रमाणीभूत वाक्य के व्यवण से जो एकत्व संख्या का बोध होता है, वह भी आधिक होता है, शान्तिक नहीं।

शब्दवल्पन्यते तदागमे हि दृश्यते तस्य ज्ञानं हि यथाऽन्येषाम् ॥१५॥

सिं—पशुगत एकत्व संख्या शाब्द प्रतीत होती है, क्योंकि पशुः प्रातिपदिकोत्तरवर्ती 'प्रम्' प्रतीय में वह दार्थरूप से विद्यमान है और उसका ज्ञान पशु आदि पदार्थों के समान होना उचित है।

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥१६॥

और, जैसा पूर्व निरूपण किया गया है, वैसे ही अर्थ के साधक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥

जैसे संख्या विवक्षित है, वैसे ही लिङ्गप्रमाण भी विवक्षित है।

आव्यपिष्वविशेषण भावोऽयंः प्रतीयेत ॥१८॥

सिं—'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में भावी सुख की जनक अद्व्यार्थता जाननी चाहिए, क्योंकि वह भी याग के समान शास्त्रीय कर्म है।

चोदनायां त्वानारम्भो विभक्तत्वान्व हुनेन विधीयते ॥१९॥

पूर्वं—शेष हवि से विधान किये गये 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में आंशिक अद्व्यार्थता—फलप्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे पृथक् कर्म नहीं हैं, और अन्य किसी वाक्य से उनकी अद्व्यार्थता का विधान नहीं पाया जाता।

स्याहा द्रव्यचिकीषयां भावोऽर्थे च मुण्डूतत्वाऽध्ययाहि युणीभावः ॥२०॥

सिं—उपर्युक्त हृषि के संस्कारार्थ होने पर भी 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में अरहटार्थता और संस्कारार्थता दोनों प्रकार हो सकते हैं, क्योंकि संस्कारार्थता तथा अरहटार्थता उद्देश्य के अधीन हैं।

अर्थे सम्बन्धस्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ॥२१॥

इसके आगे फल की प्राप्ति के अर्थ द्रव्य तथा कर्म—दोनों की समता तथा विषमता का निष्पत्ति किया जाता है।

एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्पात् ॥२२॥

पूर्व—आमिक्षा और वाजिन्—ये दोनों समान रूप से दधि-प्रदेष के प्रयोजक हैं, क्योंकि एक बार दधि-प्रक्षय—दही डालने से ही उनकी निष्पत्ति हो जाती है।

संसर्गरसनिष्टत्वोरामिक्षा वा प्रधानं स्पात् ॥२३॥

सिं—वाजिन तथा आमिक्षा—दोनों में आमिक्षा ही दधि-प्रदेष का प्रयोजक है, क्योंकि दधि के सम्बन्ध से उसकी निष्पत्ति पहले होती है।

मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥२४॥

मुख्यार्थ के शाहक सर्वनाम शब्द के हारा आमिक्षा को विश्वदेवों को समर्पित करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

एदकर्मप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥२५॥

पदकर्म गौले जाने का प्रयोजक नहीं, क्योंकि वह गौण है।

अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तत्त्विभित्त्वात् ददर्शे हि विवेयते ॥२६॥

तथा, तुषोपवाप—कपालों में तुषों को रखनारूप कर्म कपालों के सम्पादन का प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि पुरोडाश के साथ संयुक्त कपालों को तुषोपवाप का निमित्त कथन किया है और पुरोडाश अवण के लिए ही कपालों का विद्वान किया गया है।

पशाबनालभाल्लोहितशङ्कतोरकर्मत्वम् ॥२७॥

इसी प्रकार दान के लिए जाये गये पशु को खिलाने के लिए लाल रङ्ग की धास की छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर रखना और मल का दूरीकरण—ये दोनों कर्म मुख्य नहीं, आनुषङ्गिक हैं।

एकदेशद्रव्यद्वयोत्पत्ती विद्यमानसंयोगात् ॥२८॥

तथा, 'स्विष्टकृत्' याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं, क्योंकि पुरोडाश के विद्वायक वायव में उसका आग्नेय याग के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

निदेशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥२९॥

आक्षेष—प्रकृत पुरोडाश का आग्नेय याग के लिए विद्वान होने के कारण आर्थिक प्रमाण से स्विष्टकृत् कर्म के लिए किसी अन्य पुरोडाश की कल्पना होती है, यदि ऐसा कही जाए—

न शेषसनिष्टानात् ॥३०॥

सभा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि स्विष्टकृत् कर्म का शेष हृषि के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

कर्म कार्यात् ॥३१॥

पुरोहाश मुख्य कर्म की समृद्धि के लिए प्रत्युत किया जाता है, अतः उक्त कर्म पुरोडाश सम्पादन का प्रयोजक नहीं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३२॥

तथा, शास्त्र-प्रमाण उपलब्ध होने से भी उक्त धर्म की ही सिद्धि होती है।

अभिधारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रमेवः स्पात् ॥३३॥

पूर्व०—जैसे अनुयाज के साथन पृष्ठाज्यवार्णार्थं शब्दं पात्र का सम्पादन किया जाता है, वैसे ही प्राजापत्य हृवियों के लिए 'जुहु' से भिन्न कोई दूसरा पात्र होना चाहिए, वयोंकि वह ऋतुहृवियों से बहुत दूर है।

न वा पात्रत्वादपात्रत्वं त्येकदेशत्वात् ॥३४॥

तिं—उक्त कथन ठीक नहीं, वयोंकि शेषधारण के लिए किसी पात्र का विधान नहीं और प्रयाज का शेषोंश छोने से घृत के लिए अस्य पात्र का विधान न होना युक्त है।

हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥३५॥

तथा, ऋतुपशु और प्राजापत्य पशुओं को एकसाथ पुण्य का देनेवाला कथन करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

अभावदर्शनाच्च ॥३६॥

और, प्राजापत्य पशु-सम्बन्धी हृवियों के अभिधारण का विधान न पाये जाने से भी उक्त धर्म की सिद्धि होती है।

सति सव्यवचनम् ॥३७॥

अभिधारण के अभाव होने पर ही 'प्राजापत्य पशु' सम्बन्धी हृवियों की रूक्षता से प्रतिपादक वचन उपपन्न हो सकता है।

न तस्येति वेत् ॥३८॥

आत्मेप—सव्यवचन अभिधारण के अभाव का सूचक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—
स्पातस्य मुख्यत्वात् ॥३९॥

सम्भ०—उक्त कथन ठीक नहीं। उक्त वाक्य की अभिधारणाभाव का नोषक मानना ही ठीक है, वयोंकि ऐसा मानने से वह मुख्यार्थ का वाचक हो सकता है।

समानयनं तु मुख्यं स्पातिलङ्गदर्शनात् ॥४०॥

'उपमृत' संज्ञक सूर्या से 'जुहु' संज्ञक सूर्या में घृत लाना श्रोपमृत आज्य के ग्रहण का प्रयोजक है, वयोंकि प्रमाणों से ऐसा ही सिद्ध होता है।

वचने हि हेतुसामर्थ्यम् ॥४१॥

यदि 'अतिहाय' वाक्य में श्रूयग्राण समानयन को श्रोपमृत के सम्पादन का प्रयोजक न मानें तो जोहवघृत से अनुयाजभावरूप हेतु का कथन निरर्थक हो जाता है।

तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्पात् ॥४२॥

पूर्व०—'जुहु' और 'उपमृत' सूर्यों में जो आज्य का ग्रहण कथन किया है, उसका विभाग विनियोग होता है।

सत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ॥४३॥

सिं—‘जौहव’ और ‘ओपभृत’ दोनों शास्त्रों के मध्य जौहव आज्ञा प्रयाजों के लिए ही है, अनुयाजों के लिए नहीं।

ओपभृतं तथेति चेत् ॥४४॥

आक्षेप—जैसे ‘जौहव’ आज्ञा केवल प्रयाजों के लिए है, वैसे ही ओपभृत आज्ञा भी केवल अनुयाजों के लिए ही होना चाहिए, प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्पान्जुहप्रतिषेधान्तित्यानुवादः ॥४५॥

समाँ—उक्त कथन ठीक नहीं। ओपभृत आज्ञा प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए होना चाहिए, क्योंकि ‘यज्जुहाम्’ वाक्य में अनुयाजों का निषेध होने से ‘यदुपभृति’ वाक्य में प्रयाजों के साथ अर्थसिद्धि अनुयाजार्थता का अनुवाद हो सकता है।

तदष्टसंख्यं अवश्यत् ॥४६॥

पूर्व—‘उपभृत’ नामक सुवा में जो शास्त्र का ग्रहण विधान किया है, वह आठ संख्यावाला जानना चाहिए, क्योंकि ग्रहण-विधायक वाक्य से ऐसा सिद्ध होता है।

अनुप्राह्णवच जौहवस्य ॥४७॥

तथा, चुहु में चार बार का ग्रहण विधान करके पश्चात् ‘उपभृत’ में प्राप्त बार विधान करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

इयोस्तु हेतुसामर्थ्यं अवश्यं च समानयने ॥४८॥

सिं—दो बार चार के ग्रहण का विधान है, एक बार आठ के ग्रहण का नहीं, क्योंकि ग्रहण-हेतु से ऐसा ही पाया जाता है और आठ बार का विधान समानयन के अभिप्राय से किया है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यापस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

स्वस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ॥१॥

पूर्व—‘स्वर’ यूप-निर्माण-क्रिया से भिन्न किया द्वारा निष्पत्ति होता है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति का स्वतन्त्र विधान किया गया है।

जात्यग्न्तराच्च शङ्कृते ॥२॥

तथा, अन्य वृक्ष से ‘स्वर’ के निर्माण की जो शंका की गई है, उससे भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

तदेकवेशो वा स्वस्त्वस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३॥

सिं—‘स्वर’ यूप का ही एक अंश होता है, प्रतः उसका स्वतन्त्र स्थान मानना निरर्थक है।

शकलश्रुतेत्व ॥४॥

तथा, यूप का शकल शब्द होने से भी 'स्वरु' छेदन-क्रिया का प्रयोजक नहीं हो सकता ।

प्रतिपूर्णं च दर्शनात् ॥५॥

और, प्रतिशूष 'स्वरु' का विधान पाये जाने से भी उक्त शब्द की सिद्धि होती है ।

आवाने करोति ज्ञातः ॥६॥

'यस्य स्वरुं, करोति' वाक्य में जो 'करोति' शब्द है, उसका अर्थ निष्पात नहीं अपितु आवान है ।

शास्त्रार्थां तत्प्रधानत्वात् ॥७॥

शास्त्रां मैं आदृण क्रिया का सम्बन्ध जानना चाहिए, क्योंकि वह उक्त क्रिया के प्रति प्रधान है ।

शास्त्रार्थां तत्प्रधानत्वादुपदेष्ट विभायः स्याद्वैष्मयात् ॥८॥

शास्त्रां मैं उपदेष्ट के साथ प्रयोजकता तथा अप्रयोजकता शब्द में भेद होना चाहिए, क्योंकि छेदन-क्रिया के प्रति शास्त्रा प्रधान और उपदेष्ट गोप है ।

अस्त्वयायात्त्व ॥९॥

तथा, श्रुत शब्द के अभाव की प्राप्ति होने से भी उक्त शब्द की सिद्धि होती है ।

हरणे जुहोत्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—'सह शास्त्राया प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य में जो शास्त्रा का प्रहरण विधान है, वह होमरूप शर्यकर्म है, क्योंकि उसका अर्थकर्मरूप प्रस्तर-प्रहरण के साथ सम्बन्ध है और द्रव्य को अर्थकर्म का शेष होना नियत है ।

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥११॥

सिं०—शास्त्राप्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है, प्रस्तर-प्रहरण के समान अर्थकर्म नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में शास्त्रा का प्रस्तर की अपेक्षा गुणरूप से उपादान किया है ।

अप्येत्यतिति चेत् ॥१२॥

अप्रधान शब्द में भी द्वितीया विभक्ति होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न तस्यानविकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥१३॥

ठीक नहीं, क्योंकि सक्तु आदि का विनियोग न होने और शास्त्रा द्वारा वर्ताप-करण रूप शब्द के किये जाने से सक्तु भी शास्त्रा परस्पर विलक्षण है ।

उत्पत्त्यसंयोगात्प्रजीतानामाज्यवहिभागः स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—जैसे 'धूवा' के धूत का सब कर्मों में प्रयोग होता है, वैसे ही प्रणीता पात्र के जल का 'संयवन' और 'निनयन' दोनों कर्मों के लिए विभाग भी समानतया होना चाहिए, क्योंकि प्रणयन-विधायक वाक्य में उसका किसी कार्यविशेष के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता ।

संयवनार्थानां या प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥१५॥

सिं०—'संयवन' कर्म में उक्त जल से शेष बचे जल का वेदि में नियन्त्रण प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि उसके प्रति शेष जल का प्रधानरूप में निर्देश किया गया है ।

प्रासनवन्मेत्रावशस्य दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥१६॥

पूर्व०—जैसे कण्ठयन के साधन भूत विषाणुकार काष्ठविशेष का चत्वाल नामक शर्त में प्रक्षेप प्रतिपत्तिकर्म है, वैसे ही यजमान का मैत्रावरण नामक ऋत्विक के प्रति दण्ड का देना भी प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि वह दीक्षाकर्म में प्रथम विनियुक्त होने से चरितार्थ है।

अर्थकर्मं वा कर्तृसंयोगात्मुख्यत् ॥१७॥

सिं—जैसे उद्गता को माला देना शर्यकर्म है, वैसे ही मैत्रावरण ऋत्विक के प्रति यजमानकर्तृक दण्ड-प्रदान भी अर्थकर्म है, क्योंकि उसका मैत्रावरण के साथ वो ज्ञान सम्बन्ध पाया जाता है।

कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥१८॥

प्रैषादि अन्य कर्मों में भी मैत्रावरण का वर्णन दण्डसहित ही किये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्ध होती है।

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत् श्रुतिहेतुत्वात्स्यापर्निरगमने

शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥

उत्पत्ति-वाक्य में जो त्रिसके साथ संयुक्त है, वह उसी के लिए है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही पाया जाता है, तथा उसका अन्य शर्य में विनियोग हो तो वह प्रतिपत्तिरूप होना उचित है, क्योंकि वह शङ्ख नहीं किन्तु प्रधान है।

सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥२०॥

सिं—ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत 'अवमृथ' देश में जो सौमिक पात्रों का नयन कथन किया है, वह प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि उक्त पात्र अन्यत्र स्व-स्व कर्म में परिचार्य हैं।

अर्थकर्मं वाऽभिधानसंयोगात् ॥२१॥

आलेप—'अवमृथ-नयन' अर्थकर्म है, क्योंकि उपपात्रों का अवमृथ याग के साथ शङ्खरूप से सम्बन्ध उपलब्ध होता है।

प्रतिपत्तिर्वा तन्म्यापत्त्वादेशाव्याज्ज्वरमृथश्रुतिः ॥२२॥

समां—'अवमृथ-नयन' प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि युक्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है, और उदाहृत वाक्य में अवमृथ शब्द देश का वाचक है, याग का नहीं।

कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥२३॥

पूर्व०—शास्त्र में कर्ता, देश तथा काल की विधि घणेषित नहीं, क्योंकि वह कर्म-गुणान में नित्य समवेत होने से स्वयं प्राप्त है।

नियमार्था वः पुनः श्रुतिः ॥२४॥

सिं—कर्ता आदि की स्वयं प्राप्ति होने पर भी जो पुनः विधान किया है, वह नियम के लिए है।

तथा इव्येषु गुणश्रुतिरूपत्तिसंयोगात् ॥२५॥

वैसे कर्ता आदि का विधान नियमार्थ है, वैसे ही प्रतिइव्य-गुण का विधान भी नियमार्थ है, क्योंकि उसका उत्पत्ति-वाक्य से इव्य के साथ सम्बन्ध है।

संस्कारे च तत्रप्रधानत्वात् ॥२६॥

तथा, ध्रवधात् प्रादि संस्कारों में भी नियम ही जानना चाहिए, क्योंकि उनके विषयक वाक्य में नियम की प्रधानता पाई जाती है।

यज्ञति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतुर्बाह्यत्वात् ॥२७॥

याग शब्द का अर्थ है—द्रव्य, देवता और क्रिया—इन तीनों का समुदाय, क्योंकि उसका उक्त समुदाय गे ही संकेत किया गया है।

तदुक्ते अवणाङ्गुहोतिरसेचनार्थिकः स्यात् ॥२८॥

याग और होम दोनों समानार्थक शब्द हैं, क्योंकि याग शब्द के अर्थ में ही होम-वाची 'जुहोति' क्रिया का प्रयोग पाया जाता है, अन्तर इतना है कि याग में परमात्मा के उद्देश्य से त्याग होता है।

विधे: कर्मापवर्मित्वादर्थान्तरे विविप्रदेशः स्यात् ॥२९॥

पूर्व०—जिस याग में जिस द्रव्य की विधि है, उससे भिन्न याग में विहित द्रव्य के घटों का अविदेश होता है, क्योंकि विधि के कर्म की समाप्तिर्थान्तर का ही नियम है।

शपि दोत्पत्तिंसंयोगार्थसम्बन्धोऽविविष्टारां प्रयोगंकल्पहेतुः स्यात् ॥३०॥

सिं०—उत्पत्ति-वाक्य में विहित होने के कारण वहि का प्रातिव्यादि तीनों के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि समानरूप से विषयान किये द्रव्य प्रतियाग एकरूप से ही प्रनुष्ठान के हेतु होते हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाप्यप्रस्त्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परत्यंतवात्कलश्रुतिर्थं वादः स्यात् ॥१॥

द्रव्य, संस्कार तथा कर्मों में जो फल सुना जाता है, वह अर्थवाद है, दर्शोंकि वे तीनों कर्तु के लिए हैं।

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ॥२॥

तथा, उत्पत्तिवाक्य से फल के प्रति गुरुष की प्रधानता न पाये जाने से ऐसे उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

कर्तं तु उत्प्रधानायाम् ॥३॥

समस्त यज्ञक्रिया द्रव्यसाध्य हैं और क्रिया के अनुकूल फल मिलता है, अतः द्रव्य, संस्कार और क्रिया—तीनों की प्रधानता मानी जाती है।

नेमित्तिके विकारत्वात्कुप्रधानमन्यत्वात् ॥४॥

मृणमय—भिट्ठी के पात्रों का विषयान काम्य कर्मों में विहित है, नित्य कर्मों में उनके प्रयोग का विषयान नहीं है।

एकस्य तूभपत्त्वे संयोगपृथक्त्वम् ॥५॥

एक द्रव्य के नित्य और नेमित्तिक उभयार्थ होने में विनियोजक वाक्य नियामक है।

शेष इति चेत् ॥६॥

दधिरूप द्रव्य एक कर्म का ही शेष है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थपृथक्त्वात् ॥७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रयोजन के मेद से वाक्य का मेद होना उचित है।

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥८॥

ज्योतिष्टोम ग्रादि में जो पश्चोत्तर ग्रादिरूप संस्कार विधान किये हैं, वे क्रतु के घर्म हैं, पुरुष के नहीं।

पृथक्त्वाद्वयवत्तिठठेत् ॥९॥

आहृण, व्याख्या ग्रादि पदों में एष्ठो विभक्ति का प्रयोग पाये जाने से सिद्ध है कि उक्त व्रतों के साथ आहृण ग्रादि पुरुषों का सम्बन्ध व्यवस्थापक है।

चौदनायां फलान्तुतेः कर्ममात्रं विधीयेत न हृषशब्दं प्रतीयते ॥१०॥

पूर्व०—‘विद्वज्जिता यजेत्’ ग्रादि वाक्यों से कर्ममात्र का विधान है, क्योंकि उक्त विधिवाक्यों में किसी पद से फल का अवण नहीं होता और अपदार्थ का स्वीकार ठीक नहीं।

अपि वाऽमनानसामर्थ्याच्चोदनायेन गम्येताथनामर्थं वस्त्रेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थ-

तोप्यसमर्थानामानन्तर्येऽप्यसम्बन्धस्तस्मात् श्रुत्येकदेशः सः ॥११॥

सिं—वाक्य-सामर्थ्य से ही विधिवाक्य द्वारा फल की कल्पना होती है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक वचन ग्रन्थोंमें होते हैं, परन्तु फलवाचक पदरहित वाक्यों में समीपरथ होने पर भी फलवाची पद का सम्बन्ध नहीं हो सकता, प्रतः वाक्य-सामर्थ्य से कल्पित फल ही श्रुतवाक्य वा अवयव समझना चाहिए।

वाक्यायंश्च गुणायंचत् ॥१२॥

तथा, यदि फलसहित वाक्य की कल्पना न की जाए तो उक्त वाक्य गुण का विधायक हो जाता है।

तत्सर्वायंमनादेशात् ॥१३॥

पूर्व०—उक्त याग सब फलों का देनेवाला है, क्योंकि उसका कोई एक फल कथन नहीं किया गया।

एकं वा चौदर्नकत्वात् ॥१४॥

सिं—उक्त याग का एक ही फल होना चाहिए, क्योंकि वह एकवचनात् विधि-पद से विधान किया गया है;

त एवमः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१५॥

वह एक फल स्वर्ग होना चाहिए, क्योंकि वह सब यागों के प्रति समान है।

प्रत्ययाच्च ॥१६॥

तथा लोकानुभव से भी विश्वजित् याग का फल स्वर्ग ही पाया जाता है।

ऋगो फलायंवादमञ्जवत्कर्णाजिनिः ॥१७॥

पूर्व०—जैसे जृह ग्रादि ग्रन्थोंमें फलवोधक वाक्य ग्रन्थवाद हैं, वैसे ही उक्त सब्जोंमें भी फलवोधक वाक्य ग्रन्थवाद हैं, यह कार्णाजिनि मुनि का गत है।

फलमात्रेयो निर्देशादशुतो हृनुमानं स्यात् ॥१८॥

सिं०—यह मरा ठीक नहीं, क्योंकि जब फल का स्पष्ट उल्लेख है, तब उसे मानना ही चाहिए। विश्वजित् याग की भाँति अपनी कल्पना से काम लेने की आवश्यकता नहीं।

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥१९॥

जहु ग्रादि अङ्गों में फल का अवण स्तुतिस्पष्ट से ही सकता है, क्योंकि अङ्ग अङ्गी के लिए होने से स्वतः फलवाले नहीं हो सकते।

कास्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गं ऋत्वर्यः ॥२०॥

पूर्व०—जैसे यागोपकारी गो-दोहन आदि का फल पशु आदि तथा याग का फल स्वर्ग है, वैसे ही कार्यकर्म में भी स्वर्ग मुख्यफल तथा श्रुत गोणफल है।

बीते च कारणे नियमात् ॥२१॥

तथा, फल की इच्छा के निवृत्त हो जाने पर भी याग की समाप्ति का नियम होने से उक्त धर्य की सिद्धि होती है।

कासो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥२२॥

सिं०—कार्यकर्म के विधायक वाक्य में जो फलधृति है, वही उक्त कर्य का फल है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से उक्त कर्म विधान किया गया है।

अङ्गे गुणत्वात् ॥२३॥

गो-दोहन आदि यज्ञाङ्गों में जो पशु आदि फल कथन किया है, वह गौण होने से ठीक है।

बीते च नियमस्तदर्थम् ॥२४॥

तथा, इच्छा के पूर्ण हो जाने पर भी जो आरब्ध कर्म की समाप्ति का नियम है, वह प्रतिज्ञा-पालनार्थ है।

सारंकार्यमङ्गुकार्मः प्रकरणात् ॥२५॥

पूर्व०—अङ्गफलों के सहित दर्शपूर्णमासादि यागों के सब फल कथन किये हैं, स्वतः नहीं, क्योंकि प्रकरण से ऐसा ही व्यनित होता है।

फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ॥२६॥

सिं०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्र में दर्शपूर्णमास को सब फलों का देनेवाला कहा है, तब उससे विपरीत नहीं हो सकता।

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥२७॥

पूर्व०—जब दर्शपूर्णमास सब फलों के देनेवाला है, तब उसके एक बार अनुष्ठान से सम्पूर्ण फलों की सिद्धि होनी चाहिए, क्योंकि उसका उक्त फलों के साथ निमित्त-नीमित्तिकभाव सम्बन्ध है।

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्यसंयोगात् ॥२८॥

सिं०—अनुष्ठान-मेड से फल की सिद्धि होती है, एक बार के अनुष्ठान से नहीं, क्योंकि फल का उक्त वाक्य से सहभाव नहीं सुना जाता।

समवाये घोरनासंयोगस्यार्थवर्तात् ॥२६॥

सौत्रामणी शादि यज्ञो में अङ्गाङ्गभाव-सम्बन्ध में विधि जाननी चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से ही उक्त सम्बन्ध सार्थक होता है।

कालश्रुतौ काल इति चेत् ॥३०॥

कालवाची 'कत्वा' प्रत्यय का अदेण होने पर काल का विधान मानना ही उचित है, यदि ऐसा कहो तो—

नासमवायात्प्रयोजनेन ॥३१॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि फल के साथ सौत्रामणी शादि का सम्बन्ध नहीं।

उभयार्थमिति चेत् ॥३२॥

वैभूषादि कर्म दर्श और पूर्णमास—दोनों कर्मों के अङ्ग हैं, यदि ऐसा कहो तो—
न शब्देकत्वात् ॥३३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त याग का विधान एक विधिप्रत्यय से किया गया है।

प्रकरणादिति चेत् ॥३४॥

प्रकरण से उक्त कर्म दोनों का अङ्ग होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—
नोत्पत्तिसंयोगात् ॥३५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधायक वाक्य से उक्त कर्म का पूर्णमास कर्म के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है।

अनुत्पत्तो तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ॥३६॥

ज्योतिष्टोम यात्र के प्रकरण में अङ्गाङ्गभाव विधि का भ्राताव होने से काल का विधान होना चाहिए, क्योंकि ऐसा हीने से प्रयोजन के साथ प्रयाजों का सम्बन्ध हो सकता है।

उत्पत्तिकालविधाये कालः स्याद्वयस्य तत्प्रधानत्वात् ॥३७॥

अङ्गता तथा काल—दोनों के विधान का संशय होने पर काल का विधान होना चाहिए, क्योंकि याक्य से कालविधान की ही प्रधानता पाई जाती है।

फलसंयोगस्त्वचोदिते, त स्यादेषमूत्तत्वात् ॥३८॥

अविहित में फल का सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह फल के प्रति शेष नहीं है।

अङ्गानां तृपथातरंयोगे निगित्तायः ॥३९॥

वैश्वानर इष्ट का पुत्र-जन्म के साथ सम्बन्ध जातकर्म-निगित्तक है।

प्रधानेनभिसंयोगादङ्गानां मुहूरकालत्वम् ॥४०॥

पूर्वो—अङ्गकर्मों के अनुष्ठान का प्रधान काल होना चाहिए, क्योंकि उनका प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध है।

अपवृत्ते तु चोदना तत्त्वामान्यात्स्वकाले स्यात् ॥४१॥

सिं—अङ्गकर्मों का अनुष्ठान स्व-स्वकाल में होना चाहिए, क्योंकि प्रधानकर्म

की समाप्ति के अनन्तर उनका विधान किया गया है और वह सब अङ्गकर्मों के लिए समान है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनज्ञत्वम् ॥१॥

पूर्व०—‘देवन’ आदि राजसूय का अङ्ग नहीं, क्योंकि प्रकरण तथा शब्दों से दोनों की समानता पाई जाती है।

अपि वाऽङ्गमनिक्षयः स्युत्ततो विदिष्टत्वात् ॥२॥

सिं—अन्यायरूप ‘देवन’ आदि क्रियाएँ राजसूय याग के अङ्ग हैं, क्योंकि वे याग-रूप क्रियाओं से भिन्न हैं।

मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥३॥

पूर्व०—जो जिसकी सन्निधि में पठित है, वह उसी का अङ्ग है।

सर्वांसां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते भवेत् ॥४॥

सिं—‘देवन’ आदि क्रियाएँ राजसूय यज्ञ का अङ्ग हैं, क्योंकि विधिवाक्यों से वे सब प्रधानरूप से समान हैं और अभियेचनीय का अवान्तर प्रकरण भी नहीं है तथा उनका मध्य में पाठ स्थान के अभिप्राय से है, अङ्ग के अभिप्राय से नहीं।

प्रकरणविभागे च विप्रतिविद्वं ह्युभ्यम् ॥५॥

पूर्व०—प्रकरण का भेदन होने पर भी सौम्यादि को उपसदों का अङ्ग मानना ही ठीक है, क्योंकि परस्पर-विशद होने के कारण अङ्गता तथा तत्कालता—दोनों नहीं मान सकते।

अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ॥६॥

सिं—उक्त वाक्य में कालमात्र का विधान होना चाहिए, क्योंकि उक्त दोनों होमों में अङ्गाङ्गिभाव की कोई विशेष प्रयोजकता नहीं पाई जाती।

फलवद्वोक्तहेतुत्वादितस्य प्रधानं स्यात् ॥७॥

फलयुक्त ‘साग्रही’ इष्टि ‘आमन’ होमों के प्रति प्रधान है, क्योंकि फलवाले की सन्निधि में पठित अफल का अङ्ग होना सर्वसम्मत है।

दधिश्वरो नैमित्तिकः अतिसंयोगात् ॥८॥

पूर्व०—‘दधिश्वर’ नैमित्तिक है, क्योंकि अन्तरायरूप निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है।

नित्यश्च उयेष्ठशब्दत्वात् ॥९॥

पूर्व०—उक्त ‘श्वर’ नित्य तथा नैमित्तिक दोनों हैं, क्योंकि उसका उयेष्ठ होना पाया जाता है।

सर्वस्याच्च ॥१०॥

तथा, सर्वस्यपता के पाये लाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नितयो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मच्छत्त्वादभिज्ञत्वाच्चान्तरोपस्य ॥११॥

सिं—उक्त 'प्रहृ' नित्य है, क्योंकि उक्त अन्तराय-वाक्य अर्थवाद है और उससे अध्ययुतया यजमान दोनों का कर्म में सम्बन्ध नहीं पाया जाता तथा अन्तराय का अवध उक्त यह के विधान में प्रकरण-मात्र हो सकता है।

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसंख्यत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—वैश्वानर इष्टि नित्यकर्म है, क्योंकि नित्यों के साथ उसका समानरूप से कथन पाया जाता है।

पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ॥१३॥

तिं—नैमित्तिक पक्ष में ही उक्त कर्म मानना उचित है, क्योंकि विशायक वाक्य से निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है।

षट्चितिः पूर्ववत्स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—छठी 'चिति' पहली पाँच चितियों की भाँति नित्य है।

ताभित्वं तुल्यसंख्यानात् ॥१५॥

तथा प्रथम पाँच चितियों के समान कथन पाये जाने से भी छठी चिति नित्य सिद्ध होती है।

अर्थवादोपरत्तेच्च ॥१६॥

और, अर्थवाद के उपरन्तु होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

एकचितिर्वा स्यादपवृत्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥१७॥

तिं—छहों चितियों के मध्य केवल छठी चिति ही नैमित्तिक होनी चाहिए, क्योंकि प्रथम पाँच चितियों के समाप्त होने पर अप्रतिष्ठा-निमित्त से उसका विधान किया गया है।

विप्रतियेषात्तमिः समानसंख्यत्वम् ॥१८॥

एक चिति में पष्ठत्व विरोध के कारण पहली पाँच चितियों के साथ छठी चिति का समान रूप से कथन किया याया है।

पितृयज्ञः स्यकात्त्वादनङ्गं स्यात् ॥१९॥

पितृयज्ञ दर्शयन्त्र का अङ्ग नहीं है, क्योंकि उसके विशायक वाक्य में 'अमावास्या' पद काल का वाचक है, कर्म का नहीं।

तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ॥२०॥

'दर्शयुर्णमास' आदि कर्म के समान कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

विप्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥२१॥

तथा, अमावास्या यात्रा का नियेष होने पर भी पिण्डपितृयज्ञ से परमात्मा की प्रसन्नता का विधान पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

१. पिण्डपितृशाद् से यहाँ मृतक-शाद् का वर्णन नहीं है। शब्द स्वामी ने भी मृतक-शाद्-सम्बन्धी अर्थ नहीं किया है।

पशवङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ॥२२॥

पूर्वो—रशना पशु का अङ्ग है, वयोंकि विधायक वाक्य में पशु-सम्बन्ध से उसका विधान किया गया है।

यूपाङ्गं च तत्संस्कारात् ॥२३॥

सिं—रशना यूप का अङ्ग है, वयोंकि वह उसके संस्कारार्थ है।

अर्थवादच तदर्थवत् ॥२४॥

तथा, अर्थवाद वाक्य भी तभी सार्थक हो सकता है, जबकि रशना को यूप का अङ्ग माना जाए।

स्वकल्पचयेकदेशत्वात् ॥२५॥

पूर्वो—'स्वर' यूप का अङ्ग है, वयोंकि वह उसका एक टुकड़ा है।

निष्कल्पच तदङ्गवत् ॥२६॥

तथा यूप का निष्क्रय कथन करने से भी इवह यूप का अङ्ग सिद्ध होता है।

पशवङ्गं वार्यकर्मत्वात् ॥२७॥

सिं—स्वर पशु का अङ्ग है, वयोंकि वह पशु आञ्जनरूप अर्थ का साधन है।

भक्त्या निष्कल्पवादः स्थात् ॥२८॥

निष्कल्पवाद स्तुति के अभिप्राय से है।

दर्शपूर्णमातसयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥२९॥

पूर्वो—दर्श और पूर्णमास याग में जितने याग हैं—वे सब प्रधान हैं, वयोंकि उनका समान रूप से विधान किया गया है।

अथ वाङ्गानि कानिच्चिद्वज्ञात्वेन संस्तुतिः सामान्यादभिसंस्तवः ॥३०॥

सिं—आग्नेय आदि सब यागों के मध्य कई अङ्ग याग हैं, जिनकी अङ्गरूप से स्तुति की गई है और वह स्तुति अङ्ग होने से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

तथा, विकृत यागों में प्रयाजों का दर्शन भी आधारादि के अङ्गत्व में प्रमाण है।

अवशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥३२॥

आक्षेप—अङ्गता का साधक संस्तुतिरूप कारण आधारादि के समान आग्नेय आदि में भी समान है, वयोंकि स्तुतिवाक्य इसमें भी विद्यमान है।

नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥३३॥

आक्षेप—प्रति विकृतियाग प्रयाजों का दर्शन साक्षात् आक्षयित अङ्गता में प्रमाण नहीं हो सकता, वयोंकि वह अन्य प्रयोजन के लिए है।

**पृथक्त्वे त्वाभिधानयोनिवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनम् स्यत्स्थाप्तं यत्फलवर्त्वं तत्सन्निधाव-
संयुक्तं तदङ्गं स्याद् भागित्वात् कारणस्याधुतेच्चान्यसम्बन्धः ॥३४॥**

समाप्त—केवल आग्नेय आदि छह यागों के दो-दो त्रिकों में ही दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा का निवेश है, अन्यत नहीं, वयोंकि श्रुति तथा व्यपदेश से उक्त अर्थ की सिद्धि पाइ जाती है तथा उक्त दोनों त्रिक ही प्रधान याग हैं, इसलिए कि वे फल वाले हैं, और जो याग उनकी सन्निधि में पढ़े गये हैं, और फल के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं, वे अङ्गयाग

हैं तथा आधारादि का फलभागी होना न सुने जाने से प्रवान याग के साथ अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध सिद्ध है।

गुणादच नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाञ्चेष्टपद्मन्ते ॥३५॥

तथा, दर्शपूर्णमास संज्ञासहित जो गुण विधान किये गये हैं, वे आधार आदि अङ्गों के नहीं बन सकते।

तुल्या च कारणशुतिरन्वरञ्जाभिसम्बन्धः ॥३६॥

आखेप—पुरुषाङ्गों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले आधारादि के समान ही आग्नेय मादि प्रवान यागों की अङ्गता-शुति पाइं जाती है।

उत्पत्तिवभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ॥३७॥

समा०—जीवगात्र की उत्पत्ति के अभिप्राय से आग्नेय आदि को यज्ञ का सिर आदि कथन किया है, अङ्गता के अभिप्राय से नहीं, अतः मुख्यतया आधारादि यागों में ही अङ्गता का उपदेश जानना उचित है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

और, प्रति दर्श तथा पूर्णमास आहुतियों का दर्शन भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

ज्योतिष्ठोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

पूर्व०—ज्योतिष्ठोम के अन्तर्गत जितने याग हैं, वे राब समान रूप से प्रभान हैं, वर्णोंकि उनकी समप्रवानता का समान रूप से वर्णन किया गया है।

गुणानां तृत्यतिवाक्येन सम्बन्धात् कारणशुतिस्तस्मात् सोमः प्रवानं स्यात् ॥४०॥

तिं०—उत्पत्तिवाक्य द्वारा ज्योतिरूप स्तोर्मों का सोमयाग के साथ सम्बन्ध होने से उक्त याग के प्रधान होने में विसेष कारण का श्रवण पाया जाता है, अतः सोमयाग ही प्रधान है, दीक्षणीय आदि नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४१॥

तथा, सोमयाग से भिन्न दीक्षणीय आदि में अङ्गता का श्रवण भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाद्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति चतुर्थोऽद्यायः ॥

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥१॥

श्रुति-प्रतिपादित यज्ञों में श्रीतक्रम मानना ही उचित है, क्योंकि वह सब प्रेरणाओं की अपेक्षा प्रधान है।

अथाच्च ॥२॥

तथा, कहीं ग्रथं से भी क्रम का ज्ञान होता है।

आनियमोऽन्यत्र ॥३॥

जहाँ श्रीत ग्रथवा आर्थिक क्रम नहीं, वहाँ आर्थिक क्रम का नियम नहीं है।

क्रमेण वा नियमेत्, क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥४॥

एक क्रतु—यज्ञ में पाठक्रमानुसार प्रयाजों के अनुष्ठान का नियम होना चाहिए, क्योंकि वह अनुष्ठान का अङ्ग है।

आशाब्द इति चेत् स्याद्वाक्यशब्दत्वात् ॥५॥

आक्षेप—पाठक्रम शब्द-प्रतिपाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्य को पदार्थ मात्र की वोधकता है, यदि ऐसा कहो तो—

आर्थकृते चानुमानं स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थत्वात्स्वेन त्वयेन सम्बन्धस्तस्मात्स्व-
शब्दमुच्यते ॥६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। अर्थवश कल्पना करने में क्रम आशाब्द होना चाहिए परन्तु क्रतु के एक होने पर भी अङ्गों की प्रधानता होने से अपने प्रधानभूत क्रतुरूप ग्रथं के साथ यथाक्रम ही सम्बन्ध होना उचित है, अतः पाठक्रम शब्द-प्रतिपाद्य ही कहा जा सकता है, आशाब्द नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७॥

तथा, पाठक्रम के वाधक ग्रथं का दर्शन भी उक्त ग्रथं की सिद्धि में प्रमाण है।

प्रवृत्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥८॥

इसी प्रकार एक काल में प्राप्त ‘उपाकरण’ आदि पशु-संस्कारों का प्रथम वृत्ति के अनुसार द्वितीयादि क्रम जानना चाहिए, क्योंकि प्रथम उसी से आरम्भ किया है।

सर्वमिति चेत् ॥९॥

आक्षेप—उपाकरण आदि सब संस्कार युगपत् = एक साथ सब पशुओं में होने चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नाकृतत्वात् ॥१०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा विषयान उपलब्ध नहीं होता ।
कल्पन्तरवदिति चेत् ॥११॥

ग्रामेष—जैसे 'सौर्य' आदि यागों में उपयुक्त पदार्थों के संस्कार युगपत् होते हैं,
वैसे ही पशुओं के संस्कार भी युगपत् होने चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—
नासमवायात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दानक्रिया में पशुओं का समवाय
विवक्षित नहीं ।

स्थानाच्छ्रोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥

तथा, उत्पत्तिवाक्य में प्रतिपादित स्थान के अनुसार भी क्रम का ज्ञान होता है ।
मुख्यक्रमेण वाङ्मानां तदर्थत्वात् ॥१४॥

प्रधान याग के क्रम से अङ्गूष्ठायागों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वे प्रधान
यागों के लिए ही होते हैं ।

प्रकृती तु स्वशब्दस्थानाच्चाक्रमं प्रतीयेत ॥१५॥

पूर्णमास याग में अङ्गूष्ठों का अनुष्ठान पाठ्यक्रमानुसार जानना चाहिए, क्योंकि वह
साक्षात् अङ्गूष्ठ प्रतिपादक शब्दों से पाया जाता है ।

सञ्चरतस्तु विरोधे स्थानप्रयोगसमर्थ्यात् तस्माद्बुत्पत्तिदेशः सः ॥१६॥

मन्त्र के साथ द्वाहूण का विरोध होने पर मन्त्र के अनुसार अनुष्ठान होना चाहिए,
क्योंकि अनुष्ठान-मात्र के प्रकार का बोध करानेवाले द्वाहूण से कर्म का विद्यायक होने के
कारण मन्त्र प्रबल है ।

तद्वचनाद्विकृती पथाप्रधानं स्यात् ॥१७॥

पूर्व०—विकृति याग में अङ्गूष्ठ-अनुष्ठान प्रधान क्रमानुसार होना चाहिए, क्योंकि
प्रधानक्रम का बोधक वचन पाया जाता है ।

विप्रतिपत्ती वा प्रकृत्यन्वयाच्चाक्रृति ॥१८॥

सिं०—दो विरुद्ध क्रियाओं के एकसाथ प्राप्त होने पर प्रकृति-क्रमानुसार ही
अनुष्ठान होना उचित है, क्योंकि उक्त क्रम प्रकृति याग में प्रबल अन्वित है ।

विकृतिः प्रकृतिर्थमत्वात्तत्काला स्याद्याशिष्टम् ॥१९॥

पूर्व०—प्रायेयादि तीनों विकृति याग 'साक्षमेव' नामक प्रकृति याग की सिद्धि
के लिए जितना काल विधान किया गया है, उतने कालवाले होने चाहिए, क्योंकि विकृति
के लिए प्रायुत घर्मवाला होना नियत है ।

अथ वा क्रमकालसंपुक्तता सदा॒ क्रियेत तत्र विधेरनुभानात्प्रकृतिर्थमलोपः स्यात् ॥२०॥

सिं०—उक्त तीनों याग जिस क्रम तथा जिस काल में विधान किये गये हैं, उसी
क्रम तथा कालसहित सदा॒ कर्तव्य हैं, क्योंकि उदाहृत वाक्यों में जो प्राप्तः आदि कालों
का विधान है, वह उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त प्रकृति काल से प्रबल है, अतः उक्त प्रकृति
याग के घर्मभूत काल का उक्त प्रकृति यागों में लोप होना उचित है ।

कालोत्कर्षं इति चेत् ॥२१॥

आशेष—उक्त काल का उत्कर्ष होने से भी प्रातः आदि शब्द उत्पन्न हो सकते हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न तत्सम्बन्धात् ॥२२॥

सिं—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रातः आदि का एक ही दिन के साथ सम्बन्ध है।

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्योवत्मुक्तर्णं स्यात् ॥२३॥

पूर्व—अनुयाज तथा प्रयाज दोनों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के विषय में जैसा कथन किया गया है, वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से अङ्गों को स्व-स्व काल का लाभ हो जाता है।

तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्णं स्यात् ॥२४॥

सिं—अपकर्ष और उत्कर्ष में अनुयाजादि तथा प्रयाजान्त का ग्रहण है, क्योंकि चोदक वाक्य से तदादि तदन्त का ही सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ॥२५॥

प्रवृत्तिरूप प्रमाण से जिन प्रोक्षण आदि का अनुष्ठान-काल ज्ञात होता है, उनका प्रथम अनुष्ठान होना चाहिए।

शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥२६॥

तथा, शब्दार्थ का विरोध प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रसंयोगात् वैकृतं तदेव प्रतिकृष्टेत् ॥२७॥

विकृति-यात्र में विधान किये गये गूप के छेदन-यात्र का ही अपकर्ष होना चाहिए, क्योंकि उसका अन्य अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ॥२८॥

पुरोडाशों पर प्रसङ्ग से उपकार करनेवाला अनुयाज कर्त्त दक्षिणांशि के होमों का उत्कर्ष नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उनके साथ सम्बन्ध नहीं है।

तथाऽपूर्वम् ॥२९॥

जैसे प्रयाज उक्त दोनों होमों के उत्कर्षक नहीं, वैसे ही प्राकृत वेदि अभिवासनान्त अङ्गसमूह का अपकर्षक नहीं है।

सान्तपनीया तृत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वृगुण्यात् ॥३०॥

पूर्व—जैसे प्रातःसवन स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुआ मात्यन्दिन सवन का उत्कर्ष करता है, वैसे ही सन्तापनीया नामक इष्ट भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष करती है, क्योंकि वैसा न होने से कर्म का वैगुण्य हो जाता है।

अव्यवायाच्च ॥३१॥

तथा, दोनों कर्मों का व्यवधान न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

असम्बन्धात् नोत्कर्षेत् ॥३२॥

सिं—स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुई उक्त इष्ट अग्निहोत्र की उत्कर्षक नहीं, क्योंकि उसका उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रापणात्म निमित्तस्य ॥३३॥

तथा, निमित्त के प्राप्त होने के कारण सायंकाल में प्रग्निहोत्र का विधान किया गया है।

सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥३४॥

परस्पर सम्बन्ध होने के कारण प्राप्तःसवन के उत्कर्ष से भाष्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है।

षोडशी चोबन्यसंयोगात् ॥३५॥

तथा, 'उक्ष्य' ग्रह के उत्कर्ष से षोडशी ग्रह का भी उत्कर्ष होता है, क्योंकि उसका 'उक्ष्य' ग्रह के साथ सम्बन्ध है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

सन्त्विष्टे प्रधानानामेककर्त्य गुणानां सर्वकर्म स्थात् ॥१॥

पूर्व०—अनेक देय पशुओं के एक याग में एकत्र होने पर एक-एक पशु में संस्कारों का समग्र रूप से अनुष्ठान होना चाहिए।

सर्वेण वंकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥२॥

सिं—सम्पूर्ण पशुओं का एक संस्कार करके दूसरा संस्कार करना चाहिए क्योंकि देय पशुओं के साहित्य से ऐसे ही प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥

कहीं प्रबल प्रतिबन्धकरूप कारण के विवरान होने पर एक-एक प्रधान धर्मों में समग्ररूप में संस्काररूप धर्मों का अनुष्ठान होता है।

मुष्टिकपालावदानाज्जनाभ्यज्जनवपनपाथनेषु चेकेन ॥४॥

पूर्व०—मुष्टि, कपाल, अवदान, अज्जन, अभ्यज्जन, वपन तथा पावन—इन सब में एक-एक का निर्वाप आदिरूप अनुष्ठान होना चाहिए।

सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेवो तद्गुणत्वात् ॥५॥

सिं—मुष्टि आदि सब संस्कार पुरोडाय आदिरूप एक ही कार्य की सिद्धि के लिए किये जाते हैं। इन पदार्थों की समूहरूप में ही उक्त प्रधान कर्म के प्रति मङ्गता है, अतः उन्हें एकसाथ ही करना चाहिए।

संयुक्ते तु प्रक्रमात्मदङ्गं स्थादितरस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

अवदान संयुक्त होम-प्रकरण में जो केवल अवदान से उपक्रम किया गया है, वह होमपर्यन्त का समझना चाहिए, क्योंकि अवदान से भिन्न भौत्य में विधान किये 'उपस्तरण' आदि सम्पूर्ण होमार्थ होने से अवदान के ही ग्रन्थ हैं।

वचनात् परिव्याणान्तमज्जनादिः स्थात् ॥७॥

'अज्जन' आदि 'परिव्याण' पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का समग्र रूप में अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वास्तविक विधान से ऐसा ही पाया जाता है।

कारणाद्वाइनवर्सर्गः स्यादेथा पात्रवृद्धिः ॥३॥

आक्षेप—जैसे अनुयाज नामक होमों के लिए पृष्ठदात्य-धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है, वैसे ही प्रकृति में भी अध्वर्युरूप सहकारी के न मिलने के कारण 'न अवसृजेत्' की कल्पना होनी चाहिए।

न वा शब्दकृतत्वानन्यायम् त्रिमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ॥६॥

समाँ—वाक्यविशेष द्वारा प्राप्त होने के कारण उक्त संस्कारों का प्रत्येक यूप में समग्र रूप से अनुष्ठान होना ठीक है, क्योंकि एक-एक का अनुष्ठान कल्पना-मात्र है, और जो पात्रान्तर की कल्पना है, वह अर्थवल से प्राप्त है।

पशुगणे तत्त्वं तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ॥१०॥

पूर्व॑—प्रत्येक देय पशु के लद्देश्य से होतव्य पुरोडाश के मध्य एक-एक पुरोडाश में यावत् प्रवदानों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के सदृश प्रत्येक पशु में 'पशुत्व' घर्म एक है।

देवतवेककमर्यात् ॥११॥

सिँ—प्रत्येक पुरोडाश से प्रथम यथाक्रम देवत तदनन्तर रिवटकृत तत्पश्चात् ऐड अवदान होकर होम होना चाहिए, क्योंकि उक्त तीर्णों अवदान पृथक्-पृथक् एक कर्म हैं।

मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥१२॥

और अवदानकाल में पठनीय मन्त्र के उच्चारण में लाघवरूप अर्थ की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नानाबीजे एकमुलूखलं विभवात् ॥१३॥

त्रीहि आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में तण्डुल आदि की निष्पत्ति के लिए एक ही ऊखल होना चाहिए, क्योंकि वह सब अन्नों के लिए पर्याप्त है।

विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्वस्य तदर्थत्वात् ॥१४॥

आक्षेप—ऊखल अनेक होने चाहिए, क्योंकि पाठक्रम के नियत होने से उक्त अर्थ की उपलब्धि होती है।

एकं वा तण्डुलभावाद्वत्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥

समाँ—एक ही ऊखल होना चाहिए, क्योंकि तण्डुल निष्पत्तिपर्यन्त 'अव' पूर्वक 'हन्' वानु का अवघात अर्थ माना गया है।

विकारे त्वनुयाजानां पात्रमेदोऽर्थमेदास्त्वात् ॥१६॥

अन्तिपोमीय पशु याग में अनुयाज तथा प्रयाज के पात्र का भेद होना चाहिए, क्योंकि उक्त दोनों में होतव्य आज्ञायरूप अर्थ का भेद है।

प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्त हृष्टोदितस्य देषाम्नानम् ॥१७॥

प्रकृत 'नारिहोमो' के पूर्वविहित होने से उपहोम उनके अन्त में होना चाहिए, क्योंकि अङ्गी से प्रथम अविहित को पूर्वविहित के समान अङ्गता नहीं हो सकती।

मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवायः स्यात् ॥१८॥

आक्षेप—"प्रथान होमों से पीछे तथा 'नारिष्ट' होमों से पूर्व उपहोमों का अनुष्ठान होता है, क्योंकि प्रथान होमों के समान उनका विधान भी प्रत्यक्षयुत है और नारिष्ट होमों

का उपहोमों के पश्चात् अवदय अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वे आत्मानिक हैं, प्रत्यक्षशूल नहीं”—यह आवेद मुनि का मत है।

अन्ते तु बादराशस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥१६॥

समा०—“नारिष्ट होमों के पश्चात् उपहोमों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि नारिष्ट होमों का मुख्य प्रकृति याग में प्रथम विधान किया गया है”—यह बादरायण मुनि का मत है।

तथा चांग्रथं दर्शनम् ॥२०॥

तथा, प्रथम उपस्थित के प्रथमानुष्ठान में अन्यत्र इट ग्रंथ भी प्रमाण है।

हृतदेवात् पूर्वेषां स देशः स्यात् तेन प्रत्यक्षसंयोगान्यायमात्रमितरत् ॥२१॥

माहेन्द्र स्तोत्र के समीप जिसके देश की कल्पना की गई है, ऐसे अभिषेक से प्रथम होनेवाली विदेवन आदि कियाओं का भी वही स्थान होना चाहिए, क्योंकि अभिषेक के साथ उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष है और अभिषेक के पश्चात् कल्पना करना निर्मल होने के कारण कल्पना मात्र है।

प्राकृतान्त्र पुरस्तात् ॥२२॥

तथा, जिसका प्राकृत इष्ट से पूर्व पाठ किया गया है, उसका अनुष्ठान भी पूर्व होना चाहिए।

सन्निपातश्चेद्योवेत्मन्ते स्यात् ॥२३॥

यदि प्रकृति तथा वैकृत दोनों संस्कारों की एक साथ प्राप्ति हो तो प्रत्यक्षशूल वैकृतधर्म का प्राकृतधर्म के पश्चात् अनुष्ठान होना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाष्टायस्य द्वितीयः पादः ॥५

तृतीयः पादः

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृष्ठदाज्यवत्स्य तस्योपदिष्टयेत् ॥१॥

पूर्व०—जैसे प्रत्येक ‘अनुयाज’ के साथ ‘पृष्ठदाज्य’ के सम्बन्ध का विधान है, वैसे ही प्रत्येक प्रयाज के साथ एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान किया गया है, अतः प्रयाज-भेद से एकादश संख्या की वृद्धि होनी चाहिए।

अपि वा सर्वसंख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत् ॥२॥

सिं०—एकादश संख्या-पृति के लिए सब प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर पश्चात् अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि उक्त संख्या सब प्रयाजों के लिए विधान की गई है।

स्वस्थानात् विवृद्धेरन्कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥३॥

स्व-स्व स्थान में प्रत्येक उपसद की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति याग में उनके अनुष्ठान का कम नियत किया गया है।

समिध्यमानवतों समिहृवतों चान्तरेण धार्या: स्मुद्दिवाऽयिष्योरन्तराले
समर्हणात् ॥४॥

पूर्व०—आगन्तुक मन्त्रों का ‘समिध्यमान’ और ‘समिध्य’ पदवाली दोनों सामि-
षेनियों के मध्य में निवेश होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष में द्यावापृथिवी शब्द से उत्तर
दोनों सामिषेनियों का अनुवाद करके मध्य में ‘धार्या’ नाम से आगन्तुक मन्त्रों का कथन
किया है।

तच्छब्दो वा ॥५॥

सिं—उक्त वाक्यविशेष में जो ‘धार्या’ पद आया है, वह साम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों
का नाम नहीं, किन्तु ‘पृथुपाजा अमत्यं’ इत्यादि दो मन्त्रों का नाम है।

उत्तिष्ठक्कुमोरन्ते दर्शनात् ॥६॥

‘धार्या’ नामक उत्तिष्ठक् तशा ककुभ छन्दवाले दोनों मन्त्रों के अन्त में ‘अधार्या’
मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी उक्त धर्थ की सिद्धि होती है।

स्तोमविच्छृं बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्मुस्तया हि दुष्टं द्वादशाहे ॥७॥

पूर्व०—बहिष्पवमान नामक स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों की वृद्धि के लिए
आगन्तुक मन्त्रों का पर्यास से पूर्व निवेश होना चाहिए, क्योंकि द्वादशाह नामक याग में
आगन्तुक मन्त्रों का पर्यास से पूर्व ही निवेश देखा जाता है।

पर्यास इति चान्तराल्या ॥८॥

तथा, ‘पर्यास’ यह बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्तिम त्रिक की संज्ञा है।

अन्ते वा तदुक्तम् ॥९॥

सिं—आगन्तुक मन्त्रों के चार आदि त्रिकों का बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्त में
निवेश होता है, यह पीछे निर्णय किया जा चुका है।

बचनात् द्वादशाहे ॥१०॥

द्वादशाह याग में जो आगन्तुक त्रिकों का स्तोत्रीय तथा अनुरूप नामक प्रथम,
द्वितीय त्रिकों के मध्य निवेश होता है, वह वाक्यविशेष के बल से होता है, कल्पना-मात्र
से नहीं।

अतद्विकारश्च ॥११॥

तथा, ‘द्वादशाह’ याग की विकृति न होने से भी ‘अतिरात्र’ याग में उक्त याग
की भाँति निवेश नहीं हो सकता।

तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥१२॥

‘द्वादशाह’ याग की विकृति अहीन, सत्रादि यागों में भी वृषभत् शब्दवाले मन्त्रों
से गिन्न मन्त्रों के मध्य में निवेश नहीं हो सकती, क्योंकि वह वाक्यविशेष से विहित नहीं है।

अन्ते तृत्तरयोर्द्यथात् ॥१३॥

पूर्व०—माध्यनिदिन पवमान तथा आमंव पवमान सोमों के आधार प्रथम तथा
द्वितीय त्रिक को छोड़कर अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का निवेश हीना चाहिए।

अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु बचनात् ॥१४॥

सिं—गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप् छन्दवाले मन्त्रों में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

प्रेष्टकमीषानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ॥१५॥

पूर्व०—अनारम्भ पठित यह तथा इष्टिकाएँ सवन तथा चयन का शेष हैं।

कट्यग्निशेषो वा चोदितत्वाद्बोदनान्पूर्वस्य ॥१६॥

सिं—उक्त यह याग का तथा इष्टिकाएँ ग्रन्ति में होना चाहिए, क्योंकि याग तथा ग्रन्ति की अज्ञान रूपता से उनका विधान पाया जाता है तथा सवन एवं चिति की अज्ञानता का विधान नहीं पाया जाता।

अन्ते स्तुरव्यवायात् ॥१७॥

पूर्व०—चित्रिणी आदि इष्टिकाओं का उपधान ग्रन्तिम चिति में होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रकारण पठित इष्टिकाओं का परस्पर व्यवधान नहीं होता।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

तथा, लक्षणों के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

मध्यमायां तु बचनाद् बाह्यणवत्यः ॥१९॥

सिं—ग्राप्रकरण पठित ब्राह्मण वाक्य से जिनका विधान किया गया है, ऐसी चित्रिणी आदि इष्टिकाओं का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

प्राग्लोकन्पूणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥२०॥

'लोकं पूर्णा' नामक इष्टिकाओं से प्रथम चित्रिणी आदि का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, क्योंकि 'लोकं पूर्णा' केवल लिङ्ग पूर्ण करने के लिए है।

संस्कृते कर्म संस्करणां तदर्थत्वात् ॥२१॥

पवमानेष्टिरूप संस्कारों से युक्त ग्रन्ति में ग्रन्तिहोत्रादि कर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि उक्त संस्कार उक्त कर्मों की कर्तव्यतार्थ ही विधान किये गये हैं।

ग्रन्तरं व्रतं तद्मूलत्वात् ॥२२॥

आहिताग्निकर्तृक व्रत आशानान्तर कर्तव्य है, क्योंकि उनका आशान-मात्र से ग्रामध्य है।

पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥२३॥

ग्रन्तिहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों के पूर्व कर्तव्य हैं, क्योंकि लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२४॥

उक्त वाक्य अर्थवाद है, क्योंकि उसका स्तुति के लिए विधान किया गया है।

न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥२५॥

तथा, उक्त 'ब्राह्मणादिनो भीमासंसन्ते' वाक्य में नित्य ग्रन्तिहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता का निषेष पाये जाने से भी उक्त ग्रन्ति की सिद्धि होती है।

सितिचते त्वग्निचित्युक्तं प्रापणान्तिमित्तस्य ॥२६॥

पूर्व०—‘अग्निचित्’ पदवले वाक्य से विधान किये ब्रत अग्नि का चयन हो जाने पर कर्तव्य हैं, क्योंकि उनका निमित्त चयन प्राप्त है।

क्रत्वन्ते वा प्रयोगवचनभावात् ॥२७॥

सिं—याग के अनन्तर उक्त ब्रत कर्तव्य है, क्योंकि चयन के अनन्तर अनुष्ठान का बोधक कोई वाक्य नहीं पाया जाता।

आने: कर्मत्वनिवेशात् ॥२८॥

तथा, अग्नि का कर्मकारक द्वारा कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

परेणाऽवेदनाद्वैक्षितः स्यात् सर्वदीक्षाभिसम्बन्धात् ॥२९॥

पूर्व०—अध्वर्यु नामक क्रत्विक् की घोषणा के पश्चात् दीक्षित व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि दीक्षा-विधायक वाक्यों से इष्ट, दण्ड आदि सम्पूर्ण पदार्थों के साथ दीक्षा का सम्बन्ध पाया जाता है।

इष्टवन्ते वा तदर्था हृविशेषार्थसम्बन्धात् ॥३०॥

सिं—अध्वर्यु की दीक्षा इष्ट के अन्त में होनी चाहिए, क्योंकि इष्ट दीक्षा के लिए है। दीक्षा-विधायक वाक्य के ब्रेत द्रव्यरूप अर्थ के साथ सम्बन्ध बताते हैं, किया-विशेष के साथ नहीं।

समाह्यान च तद्वत् ॥३१॥

‘दीक्षणीया’ नाम से भी यही आशय प्रतीत होता है।

अङ्गवक्त्रतूनामानुपूर्वर्थम् ॥३२॥

पूर्व०—जैसे प्रयाज आदि अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान पाठकमानुसार होता है, वैसे ही काम्य यार्थों का अनुष्ठान भी पाठकमानुसार ही होना चाहिए।

न वाऽसम्बन्धात् ॥३३॥

सिं—उक्त यार्थों का परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से पाठकमानुसार अनुष्ठान नहीं हो सकता।

काम्यत्वान्त्र ॥३४॥

तथा, काम्य याग होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्राणर्थव्याप्तेति चेत् ॥३५॥

आक्षेप—काम्य यार्थों का अपनी इच्छानुसार अनुष्ठान ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने से पाठकम व्यथ हो जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

स्थाद्विद्वार्थत्वाद्वाद्या परेषु सर्वस्वारात् ॥३६॥

समाँ—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे नित्य यार्थों में ‘सर्वस्वार’ होम ज्ञानार्थ होने से सफल है, वैसे ही उक्त पाठकम भी ज्ञानार्थ होने से सफल है।

य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥३७॥

‘य एतेन’ इस वाक्य में ‘एतेन’ शब्द से अग्निष्टोम का ग्रहण है, क्योंकि उसका प्रकरण है।

लिङ्गाच्च ॥२८॥

तथा, लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अथान्येनेति संस्थानां सम्बन्धानात् ॥३६॥

पूर्व०—‘य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन’ इस वाक्य में ‘अन्य’ शब्द से ज्योतिष्ठोम याम की अत्यग्निष्ठोम आदि शेष छह संस्थाओं का ग्रहण है, क्योंकि वे ही अग्निष्ठोम की समीपवर्ती हैं।

तत्प्रकृतेर्वाऽप्तिविहारौ हि न तुल्येषु पृष्ठोते ॥४०॥

सिं०—‘अन्येन’ शब्द से अत्यग्निष्ठोमादि छह संस्था सहित ‘एकाह’ आदि सम्पूर्ण यागों का ग्रहण है, क्योंकि केवल छह संस्थाओं का ग्रहण होने से आपत्ति तथा विहार दोनों उपपन्न नहीं हो सकते।

प्रशंसा च विहृणाभावात् ॥४१॥

आक्षण—उक्त वाक्यों में जो आपत्ति तथा विहार कथन किया गया है, वह अग्निष्ठोम की प्रशंसा के लिए है, ‘एकाह’ आदि के ग्रहण के लिए नहीं, क्योंकि विकृति होने के कारण ‘एकाह’ आदि में आपत्ति तथा विहार नहीं बन सकते।

विधिप्रत्याह्रा न ह्ये कस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥४२॥

समां०—चोदक वाक्य द्वारा प्राकृत धर्मों का विकृति यागों में अतिदेशरूप प्रत्यय होने से आपत्ति तथा विहार का कथन ठीक है, क्योंकि धर्म-प्राप्ति के बिना प्रशंसा भी उपपन्न नहीं हो सकती।

एकस्तोमे वा कठुसंयोगात् ॥४३॥

पूर्व०—‘अन्येन’ शब्द से एक स्तोमवाले याग का ग्रहण है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य से एक ही प्राकृत स्तोम का विकृति यागों के साथ व्याप्तिरूप-सम्बन्ध द्वारा प्रकाशन करना पाया जाता है।

सर्वेषां वा चोदना विशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम् ॥४४॥

सिं०—‘अन्येन’ शब्द से एक स्तोमक, अनेक स्तोमक सब यागों का ग्रहण है, क्योंकि वे सब ‘अन्य’ शब्द के वाच्य हैं और जो एक-एक स्तोत्र का विकृति याग को व्याप्तिरूप-सम्बन्ध द्वारा प्रकाशित करना लिखा है, वह स्तोमों की स्तुति है :

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाश्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

क्रमकोपोऽर्थशब्दास्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ॥१॥

अर्थक्रम और श्रौतक्रम से पाठक्रम का बाव हो जाता है, क्योंकि श्रुतिविशेष तथा अर्थ से प्राप्त होने के कारण वे दोनों प्रबल हैं।

अवदानाभिघारणाऽसादनेष्वानुपूर्वं प्रवृत्त्या स्यात् ॥२॥

पूर्व०—अवदान, अभिघारण तथा आसादन—इन तीनों में क्रम का अवधारण प्रवृत्तिक्रमानुसार होना चाहिए।

यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥३॥

सिं—ब्रवदान आदि तीनों वर्मों का अनुष्ठान प्रदान क्रमानुसार होना चाहिए, क्योंकि वे प्रदान के लिए ही विधान किये गये हैं।

लिङ्गवृश्नित्वम् ॥४॥

तथा प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वचनादिविष्टपूर्वत्वम् ॥५॥

पूर्व०—दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्ठोम करना कर्तव्य है, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही व्यनित होता है।

सोमपूर्वकेषामन्याधेयस्वर्त्तनक्षत्रातिक्रमवचनात् तदर्थं नानर्थकं हि स्यात् ॥६॥

सिं—ज्योतिष्ठोम याग दर्शपूर्णमास के पश्चात् न होकर अग्न्याधान के बाद होना चाहिए, क्योंकि कई शास्त्रों में उसकी कर्तव्यता के लिए अग्न्याधान-सम्बन्धी ऋतु तथा नक्षत्र के अतिक्रम का विधायक वाक्य-विशेष पाया जाता है। यदि ज्योतिष्ठोम याग को अग्न्याधान के अनन्तर न मानकर दर्शपूर्णमास के पश्चात् माना जाए तो उक्त अतिक्रमण का अभिधायक वाक्य निरर्थक हो जाता है।

तदर्थं वचनात्त्वं नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥७॥

तथा, अग्न्याधान को ज्योतिष्ठोम के लिए कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है। यदि अग्न्याधान और ज्योतिष्ठोम का नियम ऐसा आनन्दर्थं न मानें तो अग्न्याधान के कर्मात्र के प्रति समान होने से ज्योतिष्ठोमार्थता का अभिधायक वचन उपपन नहीं हो सकता।

अथक्षयमाणस्य च पवमानहविषां कालविधानादानन्तर्याद्विशङ्कु स्यात् ॥८॥

ग्रीष्म, अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्ठोम याग न करनेवाले पुरुष के प्रति पवमान हृषियों की कर्तव्यतार्थं काल का कवन करने से भी अग्न्याधान के अनन्तर उक्त याग की निःशङ्कु कर्तव्यता सिद्ध होती है।

इष्टिरख्यमाणस्य तादर्थं सोमपूर्वत्वम् ॥९॥

अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्ठोम याग न करनेवाले के लिए दर्शपूर्णमास याग अवश्य कर्तव्य है, और ज्योतिष्ठोम याग के निमित्त से अग्न्याधान करने पर ज्योतिष्ठोम याग अवश्य कर्तव्य है।

उत्कर्थाद ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥१०॥

पूर्व०—ब्राह्मण का ज्योतिष्ठोम याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष्ठोम याग के अनन्तर उक्त याग की कर्तव्यता का विधान पाया जाता है।

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

सिं—ज्योतिष्ठोम याग के पश्चात् केवल पौर्णमास याग कर्तव्य है, क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल ‘पौर्णमास’ शब्द का सम्बन्ध पाया जाता है।

सर्वस्य चैककर्मत्वात् ॥१२॥

आक्षेप—उक्त वाक्य में पौर्णमास शब्द से दर्श तथा पौर्णमास दोनों का ग्रहण है, क्योंकि वे दोनों मिलकर एक कार्य हैं।

स्याद्वा विघिस्तदर्थेन ॥१३॥

समा०—उक्त अर्थवाद वाक्य 'पीर्णमास' शब्द से दर्शंपोर्णमास याग का विवायक नहीं, यदि ज्योतिष्टोम याग के अन्त किसी अपूर्व कर्म का विवायक है।

प्रकरणात् कालः स्थात् ॥१४॥

उक्त अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् दर्शंपोर्णमास याग के अनुष्ठानार्थ आनन्दरूप काल का विधान मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वह दर्शंपोर्णमास के प्रकरण में पठित है।

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥१५॥

प्र्व०—ज्योतिष्टोम याग अपने काल में होना चाहिए, क्योंकि प्रधान होने के कारण उसके काल का बाध नहीं हो सकता।

अपनयो वाऽधानस्य सर्वकलत्वात् ॥१६॥

ति�०—उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है, अग्न्याधान के काल का नहीं, क्योंकि अग्न्याधान के काल का बाध तो सर्वथा प्राप्त है।

पीर्णमस्त्युच्चं सोमाद्ब्राह्मणस्य वचनात् ॥१७॥

ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् पीर्णमास याग का नियम से अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानम् ॥१८॥

'पीर्णमास' संज्ञक केवल एक 'अग्नीषोभीय' याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है, पीर्णमास-संज्ञक याग-मात्र से नहीं, क्योंकि शब्द-सामर्थ्य से ऐसा ही पाया जाता है, अतः ज्योतिष्टोम से पूर्व 'अग्नीषोभीय' को छोड़कर और सब दर्शंपोर्णमास-संज्ञक याग कर्तव्य है।

पुरोडाशस्त्वनिदेशे तत्त्वस्ते देवताभावात् ॥१९॥

'अग्नीषोभीय' पद्युक्त वाक्य में यागमेद का कथन न होने से पुरोडाश याग का ग्रहण ही उचित है, क्योंकि उसमें देवता का सम्बन्ध विद्यमान है।

आज्यमपीति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—उक्त याग में अग्नीषोभीय याग से आज्य याग का ग्रहण है, यदि ऐसा कहो तो—

न मिश्रदेवतात्वादेवन्नामवत् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे ऐन्द्राग्न याग मिश्रदेवताक है, वैसे ही आज्य याग भी मिश्रदेवताक है।

विकृतेः प्रकृतिकालरत्वात्सञ्चालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षिष्टत्यात् ॥२२॥

प्रकृति याग के अनन्दर छोटे ऐन्द्राग्न आदि विकृति याग एकाहः साध्य होने चाहिए, क्योंकि विकृति यागों के प्रकृति-काल का नियम है और प्राकृत द्वयाहः तथा एकाहः दोनों कालों के मध्य प्रत्यक्षोपदिष्ट होने से एकाहः काल प्रबल है।

द्वयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥२३॥

आक्षेप—उक्त विकृति यागों का द्वयहः साध्य होने से 'प्रकृतिवदविकृतिः कर्तव्यः' इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होता ।

बचनाद्वैककाल्यं स्थात् ॥२४॥

सभा०—उक्त विकृति याग एकाहः साध्य हैं, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है ।

सान्नाय्यामीषोमीयविकाराद्बूद्ध्वं सोमात्रहतिवत् ॥२५॥

जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय दोनों याग ज्योतिष्ठोम के पश्चात् होते हैं, वैसे ही उक्त दोनों यागों के विकृति याग भी पीछे होने चाहिए ।

तथा सोमविकाराद्बूद्ध्वंपूर्णमासान्याम् ॥२६॥

जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्ठोम याग के पश्चात् होता है, वैसे ही ज्योतिष्ठोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्श-पौर्णमास याग के पीछे होना चाहिए ।

॥ इति पूर्वमीरासादर्शने पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥१॥

पूर्व०—द्रव्यों का कर्मविषयक संबोध में गोण सम्बन्ध है ।

प्रसारकं तु तादर्थ्यात् ॥२॥

सिं०—स्वर्ग के लिए होने से याग कर्म की सिद्धि का साधक नहीं ।

प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धः तस्मात्कर्मोपदेशः स्थाप्तः ॥३॥

तथा, स्वर्ग-संज्ञक अर्थ के लिए यज्ञरूप कर्म का कारणत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से कर्म द्वारा ही स्वर्ग और यागरूप कर्म का जन्य-जनकरूप सम्बन्ध है, अतः कर्म का कथन गोण है ।

फलार्थत्वात्कर्मणः ग्रास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥

पूर्व०—यज्ञकर्म श्रेष्ठ कल के लिए होने से उसका धर्मिकार स्त्री-पुरुष सबके लिए है ।

कर्तुर्या श्रुतिसंयोगाद्विधिः कात्स्यैन गम्यते ॥५॥

सिं०—वैदिक कर्मों के धर्मिकार-सम्बन्धी श्रुतियों में स्त्रियों के यज्ञ करने के धर्मिकार का निषेध नहीं है ।

लिङ्गविशेषणिवैशाल्वं पुष्टवत्तमेतिशायनः ॥६॥

पूर्व०—“श्रुतिवाक्य में पुलिङ्ग का कथन पाये जाने से स्त्रियों को यज्ञ करने का धर्मिकार नहीं है”—यह ऐतिशायन ऋषि का मत है ।

तदुक्तित्वात्त्वं दोषभूतिरविज्ञाते ॥७॥

शशात् भूषण (गर्म, यज्ञ) के हनन-सम्बन्धी श्रुति से भी यज्ञ का धर्मिकारी पुरुष ही है ।

जाति तु बादरायणोऽविशेषात् तत्प्रात् स्वप्निप्रतीयेत
जात्यर्थस्याऽविशिष्टत्वात् ॥८॥

सिं०—शाचार्य बादरायण का मत है कि श्रुतिवाक्य में पुलिङ्ग-निवैशा जाति का बोधक है, क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती, अतः जाति-अर्थ के तुल्य होने से स्त्रियों को भी यज्ञ का धर्मिकार है ।

चोकितत्वात्त्वाश्रुतिः ॥९॥

वेद-प्रतिपाद्य होने से श्रुत्यनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को यज्ञ का धर्मिकार है ।

**द्रव्यवत्त्वात् पुंसां स्थाद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयमन्यमद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यं:
समानयोगित्वात् ॥१०॥**

पूर्वं—यज्ञ द्रव्यसाध्य है और द्रव्य पुरुषों के अधिकार में रहता है तथा स्त्रीयों क्रय और विक्रय की जाती हैं, अतः द्रव्यरहित होती हैं, ऐसी अवस्था में वे यज्ञ की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं ।

तथा चाइन्यार्थदर्शनम् ॥११॥

तथा, उक्त क्रय और विक्रय की सिद्धि में उदाहरण पाया जाता है ।

तादर्श्यात्कर्मतादर्श्यम् ॥१२॥

श्वेर, यदि स्त्रीयां स्वयं परिक्रम करके घनोपार्जन करके यज्ञ करें तो भी सम्बन्ध नहीं, यद्योंकि उतपर पति का अधिकार होता है, अतः उसका क्रमाया बन भी उसी का हो जाता है ।

फलोत्साहाऽविद्येषात् ॥१३॥

सिं—घर्मरूपी फल श्वेर वैदिक कर्मों के करने का उत्साह भनुव्य की भाँति स्त्रियों में भी पाया जाता है, अतः यज्ञादि कर्मों में स्त्रियों का भी अधिकार है ।

अर्थेन च सम्बैतत्वात् ॥१४॥

विवाह में पति-पत्नी दोनों को घर्म, शर्य, काज, मोक्ष—इस फल-चतुष्पद्य के संचय का उपदेश दिया जाता है, अतः फलः का सम्बन्ध याथे जाने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है ।

क्रयस्य घर्मसाम्रत्वम् ॥१५॥

स्त्री के विक्रय की बात भी ठीक नहीं, वह घर्मक्रिया है, जो विधि-प्रनुसार की जाती है ।

स्ववत्तामपि दर्शयति ॥१६॥

शास्त्र में दम्पती का एक ही घर्म बताया गया है, अतः स्त्रियां पति की सम्पत्ति में से यज्ञादि कार्य कर सकती हैं ।

स्वबत्तोत्तु घर्मनादृते ॥१७॥

स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक ही घर्म के बोधक वाक्य पाये जाने से एक-समान कर्म करने का विधान है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

तथा, वैदिक वाक्यों में एकसाथ कर्म करने का लिङ्ग पाये जाने से भी उक्त घर्म की सिद्धि होती है ।

क्रीतत्वात् भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥१९॥

आत्मेष—जब स्त्री का मूल्य लेकर उसे बेच दिया जाता है, तब वह घर की स्वामिनी नहीं हो सकती ।

फलार्थित्वात् स्वामित्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥२०॥

समाप्तम्—स्त्री घर्मरूपी फल को चाहती है, अतः उसका स्वामीपन के साथ सम्बन्ध है ।

फलवत्तां च दर्शयति ॥२१॥

शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष को मिलकर यज्ञ करने तथा उसके हारा फल-बहुष्टय को प्राप्त करने का कथन है।

द्वयाधानं च द्वियज्ञवत् ॥२२॥

पूर्व०—जहाँ विषान में दो पुरुषों के प्रग्न्याधान करने का उल्लेख है, वहाँ उसका तात्पर्य राजा और उसके पुरोहित के मिलकर यज्ञ करने का है।

गुणस्थ तु विषानत्वात्पत्त्व्या द्वितीयाशास्त्रः स्पात् ॥२३॥

सिं०—गुण का विषान करने से द्विवचन से प्रग्न्याधान के उल्लेख में दूसरे का आशय पत्ती ही है।

तथा यावदुक्तमाशीर्वद्वृह्णचर्यमतुल्यत्वात् ॥२४॥

आशीर्वादं पौर ब्रह्मचर्यं—वेदाभ्युग्मन में पुरुष के सभान योग्यता न रखने पर भी श्री के प्रग्न्याधान का विषान शास्त्रविहित है।

धातुर्वर्णंमविशेषात् ॥२५॥

पूर्व०—चारों वर्णों को वैदिक कर्मों में अधिकार है, क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों में कोई विशेषता नहीं है।

निर्देशादा त्रयार्थं स्थापदन्याधेये ह्यसम्बन्धः कतुषु ब्राह्मणधूर्तिरित्यात्रेयः ॥२६॥

सिं०—“ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों को यज्ञ और प्रग्न्याधान का अधिकार है, शूद्र का उक्त कर्मों में कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों का अधिकार बोधन करनेवाली श्रुति ऐसा ही कहती है”—यह आवेद्य ऋषि का मत है।

निर्मित्तार्थं च ब्रादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्पात् ॥२७॥

आक्षेप—नैमित्तिक सामर्थ्य से अधिकार उत्पन्न होता है, अतः वैदिक कर्मों में शब्दका अधिकार है, ऐसा बादरि ऋषि का मत है।

अपि ब्राह्म्यार्थं दक्षांनादायाश्रुतिं प्रतीयेत ॥२८॥

‘यदेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः’ आदि शास्त्रवचनों के पाये जाने से भी ग्राहादि कर्मों में चारों वर्णों का अधिकार प्रतीत होता है।

निर्देशात् पक्षे स्पात् ॥२९॥

सिं०—पूर्वोक्त निर्देश पाये जाने से ब्राह्मण आदि पक्ष में ही वैदिक कर्मों का सम्भाव पाया जाता है।

बैगुण्यान्नेति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—उपनयन-विधि में शूद्र के लिए व्रत न पाये जाने से उसे ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न काम्यत्वात् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन थीक नहीं, क्योंकि शूद्रों में भी कामना पाई जाने से उनका ग्राहादि में अधिकार सिद्ध होता है।

संस्कारे च तत्प्रथान्त्वात् ॥३२॥

सिं—संस्कार-विषय में विशेषता का कारण ब्राह्मण आदि वर्णों की प्रधानता है।

अथ वा वेदनिर्देशादपशुद्वानां प्रतीयेत ॥३३॥

‘ब्राह्मणोऽस्य मुलभासीत्’ वेद के इस कथन द्वारा शूद्र से रहित तीन वर्णों का ही यज्ञादि में अधिकार उपलब्ध होता है।

गुणार्थितव्यान्तेति चेत् ॥३४॥

आशेष—प्रव्ययनरूपी गुण का अर्थ होने से शूद्र के लिए यज्ञादि का निषेच नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

संस्कारस्य तदर्थंत्वाद्विद्यार्थां पुरुषश्रुतिः ॥३५॥

समां—उक्त कथन ठीक नहीं। उपनयनादि संस्कार विद्या के लिए होने से विद्या-विषयक पुरुष के अधिकार का कथन है, अतः शूद्र भी वेदिनकर्म करने का अधिकारी है।

विद्यानिर्देशान्तेति चेत् ॥३६॥

आशेष—विद्या का कथन केवल तीन वर्णों में पाये जाने से शूद्र को वेदिक कर्मों का अधिकार नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥३७॥

समां—उक्त कथन ठीक नहीं। शूद्र में विद्या की सामर्थ्य न होने से उपनयन-कर्म का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि वह विद्वान् बन जाए तो उसका भी अधिकार है।

तथा ब्राह्मणार्थदर्शनम् ॥३८॥

इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

पृष्ठा०—तीनों वर्णों में घनाद्य को ही अग्रन्याधान का अधिकार है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों की सिद्धि द्रव्यस्त्रूप साधन से ही होती है।

अग्नित्यत्वात् नैव स्यादर्थीष्ठ द्रव्यसंयोगः ॥४०॥

सिं—निधनता की अवस्था धनित्य है। निधन भी अवसर पाकर घनवान् बन सकता है, अतः अधिकार सबको है।

अङ्गहीनश्च तद्भर्ता ॥४१॥

अङ्गहीन पुरुष को भी यज्ञादि वेदिक कर्म करने का अधिकार है।

उत्पत्ती नित्यसंयोगात् ॥४२॥

घर्म का सम्बन्ध जीवात्मा से है, जो अङ्गहीन में भी पाया जाता है, अतः अङ्गहीन को भी अधिकार है।

अग्र्यर्थेयस्य हृनं स्यात् ॥४३॥

जिसके तीन ऋषि (माता, पिता और आचार्य) न हों ऐसा कृत्विक् यज्ञ करने का अधिकारी नहीं है।

वचनाद्वयकारस्याधाने सर्वदेशत्वात् ॥४४॥

ध्राक्षेप—रथकार के लिए ग्रन्थाधान करने का अधिकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है, क्योंकि वह तीन वर्णों का अङ्ग है।

न्यायो वा कर्मसंयोगाच्छुद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ॥४५॥

समा०—उक्त कथन ठीक है, क्योंकि रथकार का कर्म के साथ संयोग पाया जाता है। शास्त्रों में रथकार को शूद्र नहीं कहा गया, और उसे अधिकारी माना गया है।

अकर्मत्वात् नैव स्यात् ॥४६॥

शूद्र अकर्म है, भ्रतः उसे ग्रन्थाधान का अधिकार नहीं है।

अनर्थ्यं च संयोगात् ॥४७॥

उसे ग्रन्थाधान का अधिकार देने से अनर्थ हो सकता है।

गुणार्थमिति चेत् ॥४८॥

ध्राक्षेप—विद्यारूपी गुण के कारण शूद्र को भी ग्रन्थाधान धार्दि संस्कारों का अधिकार है, यदि ऐसा कहो तो—

उक्तमनिमित्तत्वम् ॥४९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। जन्म से जाति मानने में कोई निमित्त नहीं—यह सिद्धान्त पहले ही प्रतिपादित कर दिया गया है।

सौधनवनस्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरत् ॥५०॥

सुन्दर घनुषोवाले लक्ष्मि लोग देव और ब्राह्मणों से न्यून प्रतीत होते हैं।

स्थपतिनिषादः स्त्राच्छब्दसामर्थ्यात् ॥५१॥

तथाक—तोका चलानेवालों का यज्ञ में अधिकार है। तथाक का अर्थ मल्लाह है, यह बात शब्द-सामर्थ्य से सिद्ध होती है।

तिङ्ग्नदर्शनलच ॥५२॥

तथा, प्रमाणों के पाये जाने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादशाने षष्ठात्प्रयत्नस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

पुरुषार्थकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् ॥१॥

मनुष्य-जन्म का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फलचतुष्टय की सिद्धि है, भ्रतः प्रत्येक वर्णवाले को अपने अधिकार के अनुसार प्रथल करना चाहिए।

एषि वोत्पत्तिसंयोगाद्या स्यात् सर्वदर्शनं तथाभावेऽकिम्भागे स्यात् ॥२॥

जन्मकाल के संयोग से अन्तःकरण की बनावट जैसी हो जाती है, उसी के अनुसार वर्णभेद भी हो जाता है।

प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्थाकरमी प्रयोगे स्यात् ॥३॥

पूर्व०—देव में पुरुष को कर्त्ता माना गया है, भ्रतः प्रत्येक अक्षित कर्म करने में अनुशासन है।

प्रत्ययं श्रुतिभावं इति चेत् ॥४॥

वेद में मनुष्य को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र कहा गया है, परन्तु लोक में वह अनेक कार्यों में परतन्त्र दिखाई देता है, यदि ऐसा कहो तो—

तादर्थे न गुणार्थताऽनुकृतेऽर्थान्तरत्वात्कर्तुः प्रधानमूत्त्वात् ॥५॥

उक्त कथन ठीक नहीं। कर्तारूप से मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है, इसीलिए उसकी स्वतन्त्रता अपूर्व जान पड़ती है।

आप वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येत् प्रत्ययं हि

विविधश्रुतिविवाणवत् ॥६॥

सिं—जैसे अङ्गों के खुजाने में सीधिविशेष या अन्य साधन गोष्ठ हैं, उसी प्रकार जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

अन्यस्यापीति चेत् ॥७॥

आक्षेप—एक पुरुष के किये हुए कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को प्राप्त होता है, यदि ऐसा कहो तो—

अन्यायेनाभिसम्बन्धः ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। अन्य पुरुष के किये कर्मों का फल अन्य को प्राप्त नहीं होता।

फलकामो निमित्तस्मिति चेत् ॥९॥

आक्षेप—किसी अन्य के लिए फल की कामना कर लेना ही अन्य के लिए फल का निमित्त हो सकता है, यदि ऐसा माना जाए तो—

न नित्यत्वात् ॥१०॥

समा०—कर्म के सम्बन्ध में परमात्मा का नियम अटल है, अतः उक्त कथन ठीक नहीं।

कर्म तथेति चेत् ॥११॥

आक्षेप—दूसरे के किये कर्मों का फल दूसरों को प्राप्त होता है, ऐसे कर्म पाये जाते हैं, यदि ऐसा माना जाए तो—

न समवायात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीव का अपने कर्मों के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रक्षमात् नियन्तेतारस्भस्य क्रिया निमित्तत्वात् ॥१३॥

प्रारब्ध कर्म अपने भोगरूप फल को उत्पन्न करके नियम कर देते हैं कि अन्य का भोग न हो, और जो वर्तमान काल के कर्म हैं, उनके आरम्भ में जीव का कर्तव्यरूप कर्म निमित्त है।

फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपकान्ते ॥१४॥

आक्षेप—प्रारब्ध कर्मों का भोवता भोगरूप कर्मों का भर्ता होने से, जैसे प्रारम्भ रहित पुरुष का कोई कर्तव्य नहीं होता, उसी प्रकार उस भोवता का उस भोग से गिर्न कोई कर्तव्य नहीं होता, अतः क्रियमाण कर्मों की स्वतन्त्रता का नियम नहीं।

नियमो वा तन्मितत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥१५॥

समा०—इस बात की व्यवस्था है कि जीव कर्तव्य-कर्मों को भूमि स्वतन्त्रता से करता है, क्योंकि वे त्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग में निमित्त-मात्र हैं, और कर्ता के भोग के वे कर्म कारण हैं ।

लोके कर्मणि वेदवस्तोऽधिषुल्लज्जानम् ॥१६॥

पूर्व०—लोक में जो कर्म किये जाते हैं, वे विधि-नियेष्वरूप होने से वेद के तुत्य हैं, उन्हीं कर्मों से परमात्मा-पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान हो जाएगा, अतः वेदों के मानने का कोई प्रयोजन नहीं ।

अपरावेऽपि च ते: शास्त्रम् ॥१७॥

तथा, नियम-भज्जरूप भपराव भेद के होने पर लोकिक जनों द्वारा जैसे शासन करने-वाला शास्त्र बनाया जाता है, उसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए लोकिक शास्त्र ही पर्याप्त है, वेद की कोई आवश्यकता नहीं ।

अशास्त्रात्पुष्पसम्भासितः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं तस्मादवर्णेन

गम्येताश्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥१८॥

सिं०—ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति वेद के विना ही हो जानी चाहिए, परन्तु होती नहीं, अतः वेदहृषी शास्त्र का मानना उचित है । इन्द्रियों से ग्राहोचर विषयों का ज्ञान वेदहृषी शास्त्र से ही हो सकता है, केवल तर्क से नहीं ।

देवताभ्ये च ॥१९॥

शास्त्र का ज्ञान देवता (ईश्वर) का आधार लेने से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं ।

प्रतिषेष्वर्कर्मत्वात्किया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥२०॥

नियेष्वर के विषयगृह पदार्थों में कर्तव्याभावरूप क्रिया पाई जाती है, क्योंकि प्रतिषिद्ध प्रकर्तव्य कर्म निन्दित होते हैं ।

शास्त्राभां त्वर्त्वेन पुरुषार्थों विद्धीयते, तयोरसमवायित्वातादर्थं

विद्यतिक्षमः ॥२१॥

धर्म, धर्म, काम, भोक्ता—इस फलचतुर्भूत्य का वर्णन करने से ही शास्त्र की सफलता है । जो शास्त्र इस प्रकार का उपदेश न करे वह निरर्थक हो जाता है ।

तस्मिस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेन् ॥२२॥

पूर्व०—मनुष्य को जन्म से ही शास्त्र में विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए ।

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेन् ॥२३॥

सिं०—उपनिषद-संस्कार के पश्चात् उनका पालन कर्तव्य है, क्योंकि स्मृति में कथित कर्तव्य [प्रभिवादन ग्रादि] वेद के समान ही हैं ।

अस्यासोऽकर्मणेष्वतात् पुरुषार्थों विद्धीयते ॥२४॥

पूर्व०—ग्रन्थिहोत्रादि कर्मों का निरन्तर ग्रन्थास करे, क्योंकि वह किसी कर्म-विषेष का ग्रन्थ न होने से पुरुष के लिए विघ्न किये ये हैं ।

एतस्मिन्नसम्भवन्त्योत् ॥२५॥

सिं—यज्ञ-कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है, परन्तु रात-दिन इग्निहोत्र करते रहना असम्भव है।

न कालेभ्य उपदिश्यते ॥२६॥

उक्त कर्मों का अनुष्ठान निरन्तर नहीं हो सकता, यतः उन्हें किसी नियत काल में ही करना चाहिए।

दर्शनात् काललिङ्गनां कालविधाम् ॥२७॥

कालबोधक प्रमाणों के पाये जाने से भी नियत समय का विधान पाया जाता है।

तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तते ॥२८॥

दर्शनोण्मास आदि कर्मों की अमावास्यादि पर्वों में उत्पत्ति पाये जाने से तद्बोधक शास्त्र हारा मनुष्य उन्हीं श्वसरों पर उनमें प्रवृत्त हो।

तथा हि लिङ्गवर्धनम् ॥२९॥

इसी प्रकार प्रातः एवं सायंकाल यज्ञ करने का नियम पाया जाता है।

तथान्तःकरु पुष्टानि ॥३०॥

जिस प्रकार दर्शनोण्मास आदि यज्ञों का काल नियत है, उसी प्रकार अन्य विकृति यागों का काल भी नियत है।

आचारादगृह्णनाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ॥३१॥

जैसे दर्शनोण्मास आदि याग करना नैमित्तिक नियम है, उसी प्रकार आचार-स्वरूप ब्रह्मचर्य आदि भी नैमित्तिक है।

ब्रह्मणस्य तु सोमविद्याप्रज्मुणवाक्येन संयोगात् ॥३२॥

यज्ञ, ब्रह्मचर्य और सन्तानोत्पत्ति—ब्रह्मण के ये तीनों कर्म तीन ऋणों के चुकाने के उद्देश्य से माने गये हैं, यतः ये नियत्रत हैं, नैमित्तिक नहीं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने घटाच्छायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

सर्वशक्ती प्रवृत्तिः स्यात्तथामूर्तोपदेशात् ॥१॥

पूर्व०—सर्वशक्तियों के स्रोत परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना प्राणियों का धर्म है, क्योंकि ऐसा ही उपदेश पाया जाता है।

अथ याऽयोक्तेषो स्यात्तथनि हृष्णनिवृत्तिर्गुणमात्रमितरतदर्थत्वात् ॥२॥

सिं—यज्ञादि का अनुष्ठान भी परमात्मा की ओर प्रवृत्ति के लिए ही किया जाता है, परन्तु ये साधन जड़ और एक देशीय हैं। उपात्ता मुख्य है। परमात्मा में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सबसे बड़े लाभ का भागीदार बनता है।

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात् ॥३॥

परमात्मा की ओर से उदासीन रहना दोष है, उस दोष से बचने के लिए परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए ।

कर्मिमेदं तु जैविनः प्रयोगवचनं कर्त्तव्यत् सर्वेषामुपर्देशः स्यात् ॥४॥

शाकोप—शाकार्यं जैविनि का मत है कि प्रयोग में एकवचन पाये जाने से सब शाकार्यों में कर्म का अभेद है, और सब ग्रन्थों का कथन है ।

अर्थस्य व्यष्टिगित्वादेकस्यापि प्रयोगे स्याद्यथा कर्त्तव्यतरेषु ॥५॥

समाँ०—एक प्रकार के अनुष्टुप करने में समाजता पाये जाने से सब शाकार्यों की विधिर्या एक-सी पाई जाती है, जैसे अन्य ग्रन्थों में पाई जाती है ।

विध्यपरार्थे च दर्शनात्समाप्ते ॥६॥

और, एक-जैसा पाये जाने से उक्त कर्मों की पूर्ति में विधान और दोष एक-जैसे पाये जाने से कर्मों में अभेद है ।

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥७॥

तथा, प्रायश्चित्त के विधान में भी एकता पाये जाने से कर्मों में अभेद है ।

काम्पेषु चैवर्घ्यत्वाद् ॥८॥

पूर्व०—काम्य कर्मों में भी सब शाकार्यों में अर्थों (इच्छुक) एक-जैसा पाया जाने वाले इसी प्रकार अभेद है ।

असंयोगात् नैव स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ॥९॥

सिँ०—विधिरूप शब्दप्रमाण के पाये जाने से ऐसा नहीं हो सकता, और अज्ञहीन हाने से भी ठीक नहीं ।

श्रकर्मणि चाप्रत्यवस्थात् ॥१०॥

तथा, काम्य कर्मों के न करने पर प्रत्यवायरूप दोष नहीं होता, ग्रतः काम्य और नित्य कर्मों में भेद है ।

क्रियाणामाश्रितत्वाद् द्रव्यान्तरे विभागः स्यत् ॥११॥

पूर्व०—हवनरूप क्रिया के सर्वत्र समान पाये जाने से भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भेद होता है, क्रिया में नहीं ।

अपि याऽव्यतिरेकादूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदेककर्म्यं स्यान्तामव्यं च सत्त्वत् ॥१२॥

सिँ०—द्रव्य के भेद होने पर भी कर्म का भेद न पाये जाने से तथा शब्द और रूप का विभाग न होने से गो ये गोत्व वर्त्म के समान कर्मों में एकत्र पाया जाता है, और अन्य गो व्यक्तियों के समान नाममात्र का भेद है ।

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावेनाममोऽन्यस्यशिष्टत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—श्रुति में जिस द्रव्य के हवन का उल्लेख है, उस द्रव्य के स्थान पर अन्य गो व्यक्तियों से प्रयोग करने का कोई शास्त्रीय विधान नहीं है ।

वर्चिद्विधानाच्च ॥१४॥

तथा, किसी एक रूपज्ञ में विधान पाये जाने से किसी द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य भिन्निभि ता । इसे अपवाद माना जा सकता है, विधि नहीं ।

ग्राममो वा चोबनार्थाविशेषत् ॥१५॥

सिं—‘चाल के स्थान पर सार्वा ले’—प्रतिनिधि द्रव्य में इस प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण पाये जाने से द्रव्य का प्रतिनिधि होना सिद्ध है।

नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥१६॥

किसी स्थल में विधान नियम-विधि के अभिप्राय से होता है, अतः द्रव्य का प्रतिनिधि होता है।

तन्नित्यं तज्ज्वलीर्था हि ॥१७॥

यज्ञ में रोम द्रव्य अथवा उसका प्रतिनिधि होना आवश्यक है, इन दोनों में से किसी के न होने पर यज्ञ की पूर्ति नहीं हो सकती।

न देवतानिशब्दकियमन्यार्थं संयोगत् ॥१८॥

ईश्वर, शर्मिन, मन्त्र और प्रयात्र आदि कर्म—इन चारों का प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि प्रतिनिधि से उद्देश्य का त्वाय हो जाता है।

देवतार्थां च तत्त्वर्थत्वात् ॥१९॥

तथा, देवता के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि देवता यज्ञ का मुख्य विषय है।

प्रतिषिद्धं धाविशेषण हि तत् भूतिः ॥२०॥

और, यज्ञ में मांस आदि पदार्थों का पूर्णस्तपेण निवेद्य है, क्योंकि वेद में ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तथा स्वामिनः फलसमव्यापात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२१॥

स्वामी का फल के साथ सम्बन्ध पाये जाने से और फल का कर्म के साथ सम्बन्ध होने से स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

बूढ़नां तु प्रवृत्ताबन्धमयमयेदवैगुण्यत् ॥२२॥

बहुत-से यजमानों वे यज्ञ में प्रवृत्त होने पर उनमें से किसी एक के मर जाने पर किसी अन्य को यज्ञ के अङ्गों की पूर्ति के लिए ले ग्राये।

स स्वामो स्थात्संयोगात् ॥२३॥

पूर्ढ०—मृत स्वामी के साथ संयोग होने से वह प्रतिनिधि स्वामी होता है।

कर्मकरो वा ऋतत्वात् ॥२४॥

सिं—मृत्यु होने के कारण उक्त प्रतिनिधि कर्म का करनेवाला स्वामी नहीं हो सकता।

तस्मिन्च फलदर्शनात् ॥२५॥

तथा, मुख्य स्वामी में फल का अधिकार पाये जाने से भी मृत्यु प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

स तद्वर्णा स्थात्संयोगात् ॥२६॥

उस मृत्यु का कर्म के साथ संयोग पाये जाने से वह यजमान का स्थानापन पुण्य यजमान के घर्मवाला होता है।

सामान्यं तच्चकीर्ति हि ॥२७॥

वीहि—चावल के अभाव में उससे मिलता-जुलता नीवार ही लेना चाहिए, क्योंकि उसके सद्दा की ही इच्छा है।

निर्देशात् विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ॥२८॥

विकल्प विषय में जो प्रथम यूप था वही लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही निर्देश पाया जाता है।

प्रशब्दमिति चेत् ॥२९॥

आक्षेप—इस विषय में कोई प्रमाण नहीं, यदि ऐसा कहा जाए तो—

नाज्ञङ्गत्वात् ॥३०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह अज्ञ नहीं है।

वचनाच्चाऽन्याव्यमभावे तत्सामान्ये प्रतिनिधिरभावावितरस्य ॥२१॥

सोम स्थानीय 'पूतिका' द्रव्य के न मिलने पर उसके स्थान पर अन्य द्रव्य को प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता।

न प्रतिनिधि समत्वात् ॥३२॥

दोनों में समानता होने से प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

स्यात् श्रुतिलक्षणे निरत्वात् ॥३३॥

पूर्व०—प्रतिनिधि का भी प्रतिनिधि हो सकता है, क्योंकि प्रतिनिधि-विधायक-बाक्यों में ऐसा नियम पाया जाता है।

न तदोप्सा हि ॥३४॥

सिं०—उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृत सोम द्रव्य की ही इच्छा पाई जाती है, पूतिका पादि की नहीं।

मुख्याविषये मुख्यमागमे हि तदभावात् ॥३५॥

मुख्य द्रव्य के न मिलने पर निश्चय ही प्रतिनिधि द्रव्य लेना चाहिए और मुख्य के मिलने पर मुख्य का ही विधान है।

प्रवृत्तेज्योति चेत् ॥३६॥

पूर्व०—यज्ञ-सम्बन्धी पुरोडाशों के सिद्ध होने पर भी यदि मुख्य द्रव्य का लाभ हो जाए तो मुख्य द्रव्य ही लेना चाहिए।

नानर्थकत्वात् ॥३७॥

सिं०—निरर्थक होने से मुख्य द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ॥३८॥

मुख्य-द्रव्य और संस्कृत-द्रव्य के विरोध होने पर मुख्य-द्रव्य का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि मुख्य-द्रव्य यज्ञ का अज्ञ है।

अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेऽर्थव्याणामर्थं शेषत्वात् ॥३९॥

अर्थ और द्रव्य का विरोध होने पर प्रयोजन की सिद्धि लक्ष्य में रखनी चाहिए। मुख्य द्रव्य के न होने पर भी प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि द्रव्य प्रयोजन का अज्ञ है।

विविरप्तेकदेशे स्यात् ॥४०॥

पूर्वं—मुख्य द्रव्य हीने पर भी विहित द्रव्य ही लेना चाहिए, प्रतिनिधि नहीं।
अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वादेकदेशे नियर्तेतार्थानामविभक्तत्वाद्

मुष्मान्त्रभित्तदर्थस्यात् ॥४१॥

सिं—मुख्य द्रव्य के एकदेशमात्र से भी शर्थ का अनुष्ठान होना योग्य है, क्योंकि हृदय-सम्बन्धी शेष शर्थ अन्य द्रव्य से सिद्ध हो सकेंगे, क्योंकि उन शेष शर्थों का यज्ञ से विभाग नहीं है, अन्य प्रयोजन गोण है, यज्ञ का शर्थ होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठ्यार्थस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

शेषाद् हृदयबदाननाशे स्यात्तदर्थस्यात् ॥ १॥

पूर्वं—हृदय के लिए रक्ता हृद्या पुरोडाश समाप्त हो जाए, तो यज्ञशेष के लिए रक्ते हुए पुरोडाश से हृदय करना चाहिए, क्योंकि वह इसीलिए होता है।

निर्देशादाङ्ग्यवाप्तमयेत् ॥ २॥

सिं—शास्त्र में निर्देश पाये जाने से अन्य भाग पुरोडाश आदि से ले लेना चाहिए।

अपि वा शुष्माजरं स्याह्विष्टकारणात् ॥४२॥

शेष भागों का हृदय करना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण पुरोडाश यज्ञ के लिए है।

निर्देशाच्छेषभोज्यं: प्रधानवत् ॥४३॥

पूर्वं—ऋत्विजों को यज्ञशेष का भक्षण करना चाहिए, क्योंकि प्रधान के समान यज्ञशेष-भक्षण का विधान पाया जाता है।

सर्वं च समवाप्तस्यात् ॥४४॥

सिं—यज्ञशेष सब स्त्रीओं को मिलकर खाना चाहिए, क्योंकि यज्ञ में भाग लेने-वाले सभी उसके अधिकारी हैं।

निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ॥४५॥

यजमान के साथ ऋत्विजों के भक्षणवाला विधान गोण है, वस्तुतः यज्ञशेष के भक्षण का अधिकार सभी को है।

प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥४६॥

'प्रधान यजमान पुरोडाश भक्षण करे'—यह विधान उपलक्षण-मात्र है।

आश्ववदिति चेत् ॥४७॥

आक्षेप—आश्ववदेष यज्ञ के समान आश्व का भक्षण प्राप्त होया, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनाविरोधात् ॥४८॥

समां—उरु कवन ठीक नहीं। मांस-भक्षण का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। शास्त्रों में ऐसे पापकर्म का सर्वथा निषेध है। मांस-भक्षण शास्त्रविच्छद है।

प्रथं समवायात्मायश्चत्तेषु देशोऽपि ॥१०॥

सिं—कपाल आदि वे एक भाग के टूट जाने पर प्रायशिच्छा करना। चाहिए क्योंकि एक भाग से समस्त बस्तु का सम्बन्ध होता है।

न त्वदेष्व वैगुण्ड्यात्मदर्थं हि ॥११॥

आख्ये—एकदेश के विकारी होने से प्रायशिच्छा करना ठीक नहीं, सम्पूर्ण में विकार उत्पन्न होने से प्रायशिच्छा होना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य यज्ञ के लिए ही है।

स्याहा प्राप्तनिमित्तत्वादत्तद्मो नित्यसंयोगान्तं हि तस्य

मुण्डार्थं त्वेनान्तियत्वात् ॥१२॥

समा०—एक भाग के नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञ के अयोग्य नहीं हो सकता, क्योंकि एकदेश-विकार का नित्य के साथ सम्बन्ध है। उस अवयवी द्रव्य का गोण-रूप द्वारा अनित्य होने से वह विकार प्रायशिच्छा-योग्य नहीं।

गुणानां च परार्थं त्वाद्बन्धपात्र्यः स्यात् ॥१३॥

विकार आदि गुण-दोष मुस्य नहीं, पदार्थ मुस्य है। इतः जब तक द्रव्य कार्य के योग्य हो तब तक उसके लिए प्रायशिच्छा का प्रश्न नहीं उठता।

मेवार्थं मिति चेत् ॥१४॥

आख्ये—वह विकार उस द्रव्य के नाशार्थ है, यदि ऐसा कहो तो—

तां वै भूतस्त्रिवात् ॥१५॥

समा०—ठीक नहीं। लिङ्ग अज्ञरूप होने से वह द्रव्य प्रायशिच्छा के योग्य नहीं।

तां वै दृष्टिवच सर्वनासे स्यात् ॥१६॥

सम्पूर्ण नष्ट हो जाने पर वह द्रव्य यज्ञ के अयोग्य होता है।

सामेतु सर्वदाहे स्यादेकेनेस्याद्यज्ञनीयत्वात् ॥१७॥

पुरोडाश के सर्वदेश—सम्पूर्ण के जल जाने पर प्रायशिच्छा करना चाहिए, क्योंकि एकदेश का दाह तो अवश्यभावी है। कहीं-न-कहीं जलने का चिह्न हो ही जाता है।

दर्शनाद्वाक्षेपे स्यात् ॥१८॥

आख्ये—ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं कि एक देश के दाह होने पर भी प्रायशिच्छा करना चाहिए।

अन्येन वै तच्छास्त्राद्वि कारणप्राप्तिः ॥१९॥

समा०—‘अन्य आज्याहृतियों से हृतन करे’ इस शास्त्रवचन से सम्पूर्ण के दाह होने पर ही अन्य हृति का ग्रहण पाया जाता है, इतः सर्वदाह में प्रायशिच्छा होता है।

तद्विः शब्दान्तेति चेत् ॥२०॥

आख्ये—उस हृति का वाचक शब्द पाये जाने से अन्य हृतियों द्वारा हृतन करना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादिच्यागमो हृतिः शब्दस्तत्त्वं लूपं संयोगात् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। ‘तद्विः’ शब्द यज्ञ-सम्बन्धी कर्म का वोचक है; अतः हुए पुरोडाश से उसका आशय नहीं है।

यथाश्रुतीति चेत् ॥२२॥

पूर्वं—प्रातःकाल के हवन में चूक हो जाए तो उसका प्रायशिच्छ, श्रुत्यनुसार (पौच प्याले चावल का दान देकर) कर लेना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न तत्त्वशश्त्रादुरपातो हि कर्त्तरम् ॥२३॥

सिं—उक्त कथन ठीक नहीं। हवन में चूक होने से प्रत्ययवाय दोष होता है। चावल दान देते से उसका प्रायशिच्छ नहीं होता।

होमभिष्वभवार्थं च तद्वत् ॥२४॥

पूर्वं—अन्य यज्ञशेष के समान होम और ग्रन्थिष्व का यज्ञ में भक्षण करना चाहिए।

उभाम्यां वा न हि तयोर्धमंशास्त्रम् ॥२५॥

सिं—दोनों (आहूति देने और सोम कूटनेवाले) प्रकार के अहतिजों से उक्त दोनों द्रव्य भक्षणीय हैं, क्योंकि उनके भक्षण का शास्त्र में कहीं भी निषेध नहीं है।

पुनरावेष्यमोरनवत् ॥२६॥

पूर्वं—जैसे चावल-भरे पौच प्याले नियत समय पर न रखे जाएं तो उन्हें पुनः रखने का विधान है, वैसे ही जो सूर्योदय से पूर्वं अग्न्याधान नहीं करता, उसे पुनः अग्न्याधान करना चाहिए।

इव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात् ॥२७॥

सिं—प्रातः-सायं दोनों समय यज्ञ करने से द्रव्य की उत्पत्ति—प्राप्ति होती है, अतः प्रातः-सायं दोनों समय यज्ञ करना चाहिए।

पञ्चशरावस्तु इव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ॥२८॥

पूर्वं—सान्नाय द्रव्य के स्थान में सुने जाने से पञ्चशराव कर्म प्रतिनिधि कहा गया है।

ओदना वा इव्यदेवताविधिरवाचे हि ॥२९॥

सिं—पञ्चशराव कर्म इन्द्रद्यागोचर परमात्मा के उद्देश्य से दान की विधि है।

स प्रत्यामनेस्थानात् ॥३०॥

पूर्वं—वह पञ्चशराव-याग दर्शयाग के स्थान में कथन किये जाने का प्रतिनिधि है।

अङ्गविधिर्वा निमित्संयोगात् ॥३१॥

सिं—प्रमात्रास्याहृष्ट निमित्स का सम्बन्ध पाये जाने से उक्त याग अङ्गरूप से विधान किया गया है।

विश्वजिदप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ॥३२॥

विश्वजित् याग से कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

निष्क्रयवादात्म ॥३३॥

विश्वजित् याग का कर्ता किसी से खरीदा नहीं जा सकता, वह स्वतन्त्र होता है, अतः इस याग का फल सर्वोपरि होता है।

वत्ससंयोगे दत्तचोदना स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—दर्शणीर्णमास याग में बछड़ों के दूध पीने के समय व्रत करने की विधि है।
कालो वेत्यन्तसंयोगाद्यथोक्तस्य ॥३५॥

सिं०—जब बछड़े दूध के लिए छोड़े जाएं, उस समय से यजमान को द्रतारम्भ करना चाहिए।

अथपिरिमाणाच्च ॥३६॥

यहीं वत्स या बछड़ा शब्द व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु काल के लिए माया है।

वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्यात् ॥३७॥

आख्येप—‘वत्सेनामावास्याम्’ वत्स से अमावास्या में व्रत करे—इस कथन से वत्स उस व्रत का अङ्ग प्रतीत होता है।

कालस्तु स्यादचोदनात् ॥३८॥

समां०—वत्स से व्रत के काल का प्राहृण पाया जाता है, क्योंकि उक्त वाक्य में व्रत संयोग की विधि नहीं, किन्तु काल की विधि है।

अनर्थकद्वच कर्मसंयोगे ॥३९॥

व्रतरूप कर्म के सम्बन्ध में वत्स की चर्चा निरर्थक है।

श्रवचनाच्च स्यशब्दस्य ॥४०॥

तथा, वत्स का वाचक जो शब्द है, यह व्रत का वाचक नहीं हो सकता।

कालश्चेत्सन्नयत्यपक्षे तल्लिङ्गं संयोगात् ॥४१॥

पूर्व०—यदि वत्स शब्द से काल लिया जाए तो सन्नयत पक्ष में कालबोधक सिङ्ग का सम्बन्ध पाये जाने से सन्नयत काल लेना चाहिए।

कालार्थत्वाद्वौभयोः प्रतीयेत ॥४२॥

सिं०—दोनों कालों में काल का अर्थ पाये जाने से प्रतीत होता है कि दोनों कालों का प्राहृण है।

प्रस्तरे शालाभयणवत् ॥४३॥

पूर्व०—द्रव्य के उत्पादन के समय में शाला-प्राहृण-काल के समान काल लेना चाहिए।

कालविधिर्भयोर्विद्यमानत्वात् ॥४४॥

सिं०—व्रत के काल का विवान प्रस्तर और शाला दोनों के विद्यमान समय से लेना चाहिए।

प्रत्यसंस्कारार्थत्वाच्च ॥४५॥

प्रातःकाल यजमान के व्रत करने का कोई उपयोग न होने से सन्ध्याकाल में ही व्रत करना चाहिए।

तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥४६॥

प्रातःकाल यजमान के व्रत का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि प्रातःकाल तो दर्शयाग करना ही है, अतः सन्ध्याकाल से ही व्रत करना उपयुक्त है।

उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥४७॥
तथा, उक्त व्रत की स्थिति सन्ध्याकाल पक्ष में ही होती है ।
॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने वज्ञान्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

भग्नुदये कालापराव्याविज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे ॥१॥
पूर्व—इभग्नुदय-संज्ञक इष्टि में ग्रामावास्या में दर्शन की भार्ति से यज्ञ करने पर पुनः यज्ञ करने की प्रेरणा पाई जाती है, पञ्चशराव नामक यज्ञ की भार्ति ।

अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥२॥

सिं—ऐसी ग्रन्थस्या में दूषित द्रव्य का त्याग करके नई सामग्री लानी चाहिए, परन्तु यज्ञ करानेवाले ऋत्विज नये (दूसरे) लाने की आवश्यकता नहीं है ।

स्तूपस्त्वाच्च शब्दानाम् ॥३॥

तथा, शब्दों का वही रूप होने से क्रृत्विजों का त्याग उचित नहीं । सामग्री में ही विकृति आती है, क्रृत्विजों में नहीं, अतः उनका त्यागना उचित नहीं ।

आतञ्चनाम्यासत्य च दर्शनात् ॥४॥

ओर, आतञ्चनरूप ग्रन्थास भी वैसा ही देखा जाता है, अतः ऋत्विजों के त्याग की आवश्यकता नहीं ।

अपूर्वत्वाद्विषानं स्यात् ॥५॥

अपूर्व (जो बात प्रथम न हो) होने से विधि होती है, ग्रन्थ के लिए नहीं । सामग्री दूषित होने से ग्रन्थ सामग्री का विधान है, ऋत्विजों का नहीं ।

पयोदोषात्पञ्चशरावेज्जुष्टं होतरत् ॥६॥

पञ्चशराव यज्ञ में जब पात्रों में दूष आ जाने से उनमें रखा दूष दूषित हो जाता है, तब उसे त्यागकर नया दूष लेने का विधान है ।

सान्नाय्येऽपि तथेति चेत् ॥७॥

आक्षेप—सान्नाय्य (दर्शिरूप सामग्री) भी ग्रन्थ सामग्री के समान दूषित होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न तस्याद्युष्टत्वादवशिष्टं हि कारणम् ॥८॥

सम्भ—उक्त कथन ठीक नहीं है, वयोःकि दही शोष खराव नहीं होता, दूसरे वह हवि के लिए नहीं, उसका प्रयोग ग्रन्थ ही है ।

तस्माणार्था शूतशूतिः ॥९॥

सान्नाय्य च रुहवि के लिए नहीं, अपितु ग्रन्थ पदार्थों के संस्कार के काग आता है ।

उपांशुयाऽवचनाद्यथा प्रकृति वा ॥१०॥

पूर्व—उपांशु याग में सामग्री के दूषित होने की बात नहीं कही गई है, अतः उसका प्रयोग सदा यूँ ही हो सकता है ।

अपनयो वा प्रवृत्या यथेतरेषाम् ॥११॥

सिं—उपर्यु याग में भी दूषित सामग्री का त्याग करना चाहिए। यह बात प्रकृति से पाई जाती है, जैसाकि अन्य यज्ञों में पाया जाता है।

निरुत्ते स्यात्तत्संयोगात् ॥१२॥

पूर्व०—सामग्री के दूषित हो जाने से उसका त्याग करना चाहिए, क्योंकि अधिक समय बीतने पर सामग्री में विकार होना सम्भव है।

प्रवृत्ते प्रापणान्मित्तस्य ॥१३॥

सिं—जब द्रव्य काल के प्रभाव से विकृत हो जाता है, तब उसका बदलना आवश्यक होता है।

लक्षणमात्रमितरत् ॥१४॥

सामग्रीविषयक जो निरुत्त कथन किया गया है, तदनुसार भी दूषित सामग्री का त्याग सिद्ध होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

तथा, ऐसा ही अन्य स्थानों में भी पाया जाता है।

अनिरुद्देऽन्युदिते प्राकृतीश्चो निर्वंपेदित्याश्रमरथ्यस्तणुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥

पूर्व०—आचार्य ग्रन्थमरथ का मत है कि अशुद्धय-इष्ट से जिस सामग्री को शुद्ध नहीं किया गया, उसे शुद्ध करना चाहिए, जैसे चावलों को शुद्ध किया जाता है।

व्याध्वर्णभागम्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वादेवतापनयस्य ॥१७॥

सिं—आचार्य आलेखन का मत है कि ऊपर-ऊपर भाग की सामग्री निकालनी चाहिए, क्योंकि देवता का अपनय उसी से होता है।

विनिरुत्ते न मुट्ठिनामपनयस्तदगुणत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—सम्पूर्णरूप से दूषित सामग्री में से मुट्ठी-भर सामग्री निकालना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण सामग्री ही दूषित गुणोंवाली है।

अप्राकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानोयत्वात् ॥१९॥

सम्पूर्ण सामग्री का त्याग इत्यालिए कहा गया है कि दूषित सामग्री के साथ सम्बन्ध रखने से शुद्ध सामग्री भी अशुद्ध हो जाती है।

अभावाच्चतरस्य स्यात् ॥२०॥

सिं—यदि शुद्ध सामग्री का सर्वथा अभाव हो तो दूषित सामग्री को ही शुद्ध कर लेना चाहिए।

सान्नाय्यसंयोगतसन्नयतः स्यात् ॥२१॥

पूर्व०—सान्नाय्य में दूध और दही के मिलाने में विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए।

ओषधसंयोगाद्वौभयोः ॥२२॥

सिं—किसी ओषधविशेष के मिलाने से सामग्री में विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए।

वंशुप्राप्तान्तेति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—ओषधिविशेष को निकाल देने से वह सामग्री गुणरहित हो जाएगी, यदि ऐसा कहा जाए तो—

नातत्संस्कारत्वात् ॥२४॥

समाँ—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ओषधिविशेष से सामग्री का संस्कार नहीं होता।

सामयुत्थाने विश्वजित् ऋते विभागसंयोगात् ॥२५॥

पूर्व०—सत्र के लिए दीक्षित पुरुष मदि यज्ञ समाप्त होने से पूर्व ही उठ जाए तो उसे विश्वजित् याग करना चाहिए, क्योंकि उसने जो सोम-मूल्य लिया है, उसका उपयोग किसी यज्ञ में करना आवश्यक है।

प्रवृत्ते वा प्राप्णान्निमित्तस्य ॥२६॥

सिँ—सत्र के प्रवृत्त होने पर ही विश्वजित् याग की सम्भावना पाई जाती है।

आदेशार्थेत्तरा श्रुतिः ॥२७॥

सोम का विभाग करनेवाला कथन आदेश के लिए है।

दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम के लिए दीक्षित पुरुष उस कार्य में इच्छामुसार चाहे वित्तना समय लगा ले, क्योंकि शास्त्र में इसके लिए काल का बोई नियम नहीं है।

द्वादशाहस्रु लिङ्गात् स्थात् ॥२९॥

सिँ—दीक्षित पुरुष को बारह दिन का नियम पालन करना चाहिए, क्योंकि दीक्षावोधक लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

पूर्व०—‘शवाभ्यन्’ नामक सत्र किसी भी पूर्णिमा को करना चाहिए, क्योंकि इसके लिए किसी विशेष पूर्णिमा का नियम नहीं है।

आमन्तर्यत्तु चैत्री स्थात् ॥३१॥

पूर्णिमा पद से चैत्र की पूर्णिमा का ग्रहण है, क्योंकि बाक्यवेष में चैत्र की पूर्णिमा का स्पष्ट रूप से कथन पाया जाता है।

मात्री एकाष्टकाश्रुतेः ॥३२॥

सिँ—उक्त सन्दर्भ में पौर्णमासी पद से माघ की पूर्णिमा का ग्रहण है, क्योंकि माघ से आगे आनेवाली एकाष्टका=अष्टमी का श्वेत पाया जाता है।

आन्या अपीति चेत् ॥३३॥

आक्षेप—अन्य कृष्णाष्टमियाँ भी एकाष्टका पद की वाच्य हैं, यदि ऐसा कहे दो—

न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥३४॥

समाँ—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणा से लोक में इस षष्ठमी का ही षष्ठका पद के व्यवहार होता है।

दीक्षापराव्रे चानुग्रहात् ॥३५॥

दीक्षा के अपराव्र के सम्बन्ध में भी माघ की अष्टमी को ही एकाष्टका कहा जाता है।

उत्थाने चानुप्रोहात् ॥३६॥

तथा, एकाष्टका के आने पर ही दृक्षों में नये ग्रंथुर निकलते हैं।

अस्यां च सर्वलिङ्गनि ॥३७॥

इन लक्षणों के पाये जाने से माघाष्टमी ही 'गवामयन' के लिए प्रशस्त है।

दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥३८॥

पूर्वं—ज्ञ के लिए दीक्षित होने पर पुरुष को अपने नियत कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उक्त कर्मों का काल प्राप्त है।

उत्कर्षों वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

सिं—दीक्षा एक मुख्य कार्य के लिए ग्रहण की जाती है, जो उत्कृष्ट है, अतः उस काल में नियत कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं है।

तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ॥४०॥

दीक्षित अवस्था में प्रतिहोम नहीं पाया जाता, जैसा कि पूर्व लोगों के लिए पाया जाता है।

कालप्रावासन्याच्च ॥४१॥

तथा, काल की प्रवासनता पाये जाने से भी दीक्षित के लिए प्रतिहोम की विधि नहीं है।

प्रतिषिद्धाच्चोद्धर्वमवभूथादिष्टः ॥४२॥

और, अवगृथ इष्टि के लिए भी प्रतिहोम का निवेद है।

प्रतिहोमश्चेत्सायमन्वितोत्प्रभूतीनि हृष्येरन् ॥४३॥

यदि होम के लोप होने पर प्रतिहोम किया जाए तो सायंकाल से लेकर अग्निहोत्र आदि कर्म करे।

प्रातस्तु षोडशिनि ॥४४॥

षोडशी इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम करे।

प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ॥४५॥

पूर्वं—साधनों के खण्डित हो जाने पर सब इष्टियों में प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि भेदन-निमित्तक दोष सर्वत्र समान है।

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥४६॥

सिं—प्रायश्चित्त के प्रकरण में ही प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्त का विधायक शब्द ही प्रायश्चित्त में हेतु है।

अतद्विकाराच्च ॥४७॥

तथा, सब इष्टियों में भेदन-निमित्तक विकार न पाये जाने से प्रायश्चित्त का सर्वत्र विषयान नहीं।

व्यापन्नस्यात्मु गतौ पदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ॥५८॥

जो पदार्थं आयं-पुरुष के लिए अग्रक्षय, अयोग्य और दूषित हैं, उन्हें जल में फेंक देना चाहिए।

विभागश्रुतेः प्रायशिच्चतं वौचपद्ये न विद्यते ॥५९॥

पूर्व०—उद्गाता और प्रतिहृता दोनों का एक काल में अपछेद होने पर प्रायशिच्चत नहीं होता, क्योंकि वह एक-एक का अपछेद होने पर विधान किया गया है।

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ॥५०॥

सिं०—यदि विधान में एक काल का उल्लेख किया होता तो प्रायशिच्चत न होता, परन्तु निमित्त विद्यानां होने पर प्रायशिच्चता आवश्यक है।

तत्र विप्रतिवेधाद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥

दोनों का एक काल में अपछेद होने पर दोनों प्रायशिच्चतों में से कोई एक प्रायशिच्चत होना चाहिए, क्योंकि परस्पर विरोध होने के कारण दोनों नहीं हो सकते।

प्रयोगान्तरे बोभ्यानुप्राप्तः स्यात् ॥५२॥

आक्षेप०—यदि एक याग में दोनों प्रकार का प्रायशिच्चत न हो सके तो भिन्न-भिन्न दो यागों में दोनों का अनुष्ठान हो सकता है।

न चैकसंयोगात् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रायशिच्चतों का एक याग के साथ सम्बन्ध है।

पौर्वपिये पूर्वदीर्बल्यं प्रकृतिवत् ॥५४॥

जैसे प्रकृति में विधान किया पदार्थ विकृति में विधान किये पदार्थ से निवंल है, वैसे ही त्रम से अपछेद होने पर प्राप्त हुए दोनों प्रायशिच्चतों के मध्य अवक्षिणारूप प्रथम प्रायशिच्चत सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायशिच्चत की अपेक्षा निवंल है।

यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुर्यन्ते सर्ववेदसंदद्यात्मथेतरस्मिन् ॥५५॥

यदि उद्गाता का प्रतिहृता के अपछेद से पूर्व अपछेद हो तो जैसे भिन्न-भिन्न समय में अपछेद होने पर पुनर्याग में सर्वस्व दक्षिणा दी जाती है, वैसे ही पुनर्यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देनी चाहिए।

अहर्णेण यस्मिन्पत्तेऽवस्तवावर्त्तत कर्मपूर्यक्त्वात् ॥५६॥

द्वादशाहू आदि अहर्णेण यागों के मध्य जिस याग में उद्गाता का अपछेद हो उसी की आवृत्ति करे, क्योंकि एक-एक दिन में होनेवाला वह यज्ञरूप कर्म भिन्न-भिन्न है।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

षष्ठः पादः

सन्तिपातेऽवैगुम्यात्प्रकृतिवस्तुल्यकल्पा यज्ञरत् ॥१॥

सत्र याग में जो सत्रह अतिविज्ञ लिए जाते हैं, वे समान गोत्र के होने चाहिए, जिससे यज्ञकार्य में विगुणता उत्पन्न न हो।

वचनादा शिरोवत्स्यत् ॥२॥

आक्षेप—जिस प्रकार शास्त्र में मृतक को छुने का नियेध है, फिर भी उसके सिर को उठाने के लिए कहा गया है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न गोत्रों के वृत्तिवर्जों से यज्ञ कराया जा सकता है।

न वाऽनारभ्यवादत्वात् ॥३॥

समा०—भिन्न गोत्रों का अधिकार ठीक नहीं, क्योंकि उनके अनारम्भ का कथन पाया जाता है।

स्यादा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥४॥

आक्षेप—श्रीदुम्बरी (काण्ठविशेष) के समान यज्ञार्थ होने से विभिन्न गोत्रवाले वृत्तिवर्जों से यज्ञ कराया जा सकता है।

न तत्रधानस्त्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि कल्प—गोत्र पुरुषार्थ के लिए है, यज्ञ के लिए नहीं।

श्रीदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ॥६॥

कपाल के समान श्रीदुम्बरी भी यज्ञ के लिए होती है, अतः विभिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार है।

अत्येनापीति चेत् ॥७॥

आक्षेप—तब अत्य यजमान से भी यज्ञ होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नैकत्वात्स्य चानविकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक होने से उस यजमान का अनविकार है और शब्द के एक होने से अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार नहीं।

सन्निपातात् निभित्तविधातं स्यात् बृहद्रथन्तरवद्भिर्भक्तशिष्टत्वाद्विसिष्ठनिर्वर्त्ये ॥९॥

आक्षेप—यदि समान कल्पवालों का यज्ञ में अधिकार माना जाए तो फल का निमित्त ठीक नहीं रहता, क्योंकि फल एक के उद्देश्य से होना चाहिए और यजमान भिन्न-भिन्न है, अतः समान कल्पवालों का अधिकार मानना ठीक नहीं।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादविधातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ॥१०॥

समा०—समान कल्पवाले यजमानों का यज्ञ से सम्बन्ध स्वामीरूप से होता है, अतः फल की प्राप्ति में बाधा नहीं होती, क्योंकि फल के लिए सब यजमानों का कर्तृत्व एक-जीरा है।

साम्नोः कर्मचूद्यैकदेवेन संयोगो गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्तस्मात्तत्र विधातः स्यात् ॥११॥

उक्त प्रकरण में बृहत् और रथन्तर दोनों सामग्रों का कर्मचूदि द्वारा उक्त स्तोत्र से सम्बन्ध है, अतः उक्त साम का विधात होता है और गुणरूपता से सम्बन्ध होने के कारण भी विधात होता है परन्तु उक्त दोनों बातें फल में नहीं पाई जातीं, अतः फल में विधात का दोष नहीं आता।

वचनात् द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥१२॥

पूर्व०—जैसे ‘अञ्जलि से हृवन करे’ इस वाक्य में बाएँ हाथ का भी सम्बन्ध प्रतीत

होता है, वैसे ही 'राजपुरोहितो' वाक्य में भी राजा के दो पुरोहितों की प्रतीति होती चाहिए, क्योंकि विधायक वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है, अतः एक राजा के दो पुरोहितों का ही उक्त यज्ञ में अधिकार है, राजा तथा पुरोहित दोनों का नहीं।

अर्थभावात् त्रैवं स्यात् ॥१३॥

सिं—उक्त वाक्य में दो पुरोहितों का यहण ठीक नहीं, क्योंकि उसका उक्त अर्थ नहीं है।

अर्थानां च विभवत्तवान्त तत् श्रुतेन सम्बन्धः ॥१४॥

तथा, यागफल का विभाग पाये जाने से भी उक्त वाक्य में श्रवण किये याग के साथ दो पुरोहितों का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

पाणे: प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥१५॥

वामहृष्ट का अञ्जलि के प्रति अङ्गभाव होने पर भी हवन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सत्राणि सर्ववर्णनामविशेषात् ॥१६॥

पूर्व—सत्र नामक यागों में ब्राह्मण आदि सब वर्णों का अधिकार है, क्योंकि उक्त सत्रों के विधायक वाक्यों में कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

ब्राह्मणानां वेतरयोरात्मिक्यभावात् ॥१८॥

सिं—ब्राह्मणों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि क्षत्रिय तथा वैश्य के क्रृतिवज्र होने का नियेद्ध पाया जाता है।

बचनाविति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—'ऋद्धिकामा: सत्रगासीरन्'—इस बचन से इतर वर्णों का अधिकार सिद्ध है, यदि ऐसा कहो तो—

न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में सत्र का स्वामी होना कथन किया गया है।

गाहंपते वा स्यान्नामाविप्रतिषेधात् ॥२१॥

आक्षेप—गृहपति-कर्म में क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से कोई विरोध नहीं।

न वा कल्पविरोधात् ॥२२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसमें कल्प—गोत्र का विरोध हो जाता है।

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥२३॥

पूर्वपद का साधक जो लिङ्ग कथन किया गया है, वह अहीन नामक याग में जानना चाहिए, क्योंकि उस याग में ब्राह्मणातिरिक्त वर्ण भी यजमान होते हैं।

बासिष्ठानां वा ग्रहात्वनियमात् ॥२४॥

पूर्व०—बसिष्ठ गोत्रवालों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि उन्होंका ग्रहा होना नियत है।

सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥२५॥

अथवा, सत्र में सब ब्राह्मणों का अधिकार है, क्योंकि वाक्यान्तर में बसिष्ठ गोत्रवाले के ग्रहा होने का निषेष पाया जाता है।

वैद्वत्मित्रस्य हीत्रिनियमादभृगुशुनकवसिष्ठानामनविकारः ॥२६॥

सिं०—भृगु, शुनक, बसिष्ठ गोत्रवालों का यज्ञ में अधिकार नहीं अपितु विद्वामित्र गोत्रवालों का ही अधिकार है, क्योंकि उन्हीं के होता होने का नियम पाया जाता है।

विहारस्य प्रभृत्वादनगानामपि स्यात् ॥२७॥

पूर्व०—अनाहित अभिनयों का भी सत्र में अधिकार है, क्योंकि एक ही आह्नीयानि सब यज्ञों के लिए समर्थ है।

सारस्वते च दर्शनात् ॥२८॥

तथा सारस्वत नामक सत्र में अनाहिताभिनयों का कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रायशिच्छत्विवानात्म ॥२९॥

और, प्रायशिच्छत का विवान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

साम्नीनां वेष्ट्यूर्बृत्वात् ॥३०॥

सिं०—सत्र में आहिताभिनयों का ही अधिकार है, क्योंकि सत्र का अनुष्ठान दर्शपौर्णमास याग के पश्चात् कथन किया गया है।

स्वर्येण च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥

तथा, अपने-अपने अर्थ के लिए अभिनयों का आवान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सन्निवापं च दर्शयति ॥३२॥

और, सब यजमानों की अभिनयों का यिलाप श्रुति वाक्य से पाया जाता है।

जुहूदीनामप्रयुक्तत्वात्सन्वेहे यथाकामी प्रतीष्टते ॥३३॥

पूर्व०—जुहू आदि पात्रों का सन्देह होने पर अपनी इच्छा के अनुसार उपादान करे, क्योंकि उनका विशेष रूप से विवान नहीं पाया जाता।

अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वोरन्विप्रतिवेधाव्यासत्रकृतत्वात् ॥३४॥

सिं०—दूसरे सर्वसाधारण जुहू आदि पात्र सम्पादन करने चाहिए, क्योंकि शास्त्र में ऐसा ही विवान है, और किसी यजमान के पात्र यहण करने में विरोध हो जाता है।

प्रायशिच्छत्वापदि स्यात् ॥३५॥

यजमान के मर जाने पर जो प्रायशिवत कथन किया गया है, वह भी उक्त प्रण भी सिद्धि में प्रमाण है।

पुरुषकल्पेन वा विकृतो कर्तुनियमः स्थायशस्थ तदगुणत्वादभावादित-
रात्रप्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्पात ॥३॥

पूर्वो—अव्वर-कल्पादि विकृति यार्गों में पुरुषविदेष द्वारा सत्रह सामिधेनियों का उल्लेख पाये जाने से वैश्यरूप यजमान का नियम होना चाहिए, यद्योंकि पूर्वोक्त यार्गों के प्रति उक्त सामिधेनियाँ गौण हैं, और ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रति सत्रह सामिधेनियों का विधान नहीं, अतः एक वैश्यरूप यजमान में ही उक्त यार्गों का अधिकार होना चाहिए।

लिङ्गाचेऽयाविशेषवत् ॥३७॥

जैसे वैश्यस्तोम नामक यागविशेष में केवल वैश्य का ग्रधिकार है, वैसे ही प्रमाणों के उपरबूझ होने से उक्त विकृति यागों में वैश्य का ग्रधिकार सिद्ध होता है।

न वा संयोगपथक्त्वाद् गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥

सिं—उक्त कृत्यान ठीक नहीं, क्योंकि याग के विधायक और सामिधेनियों के विधायक वाक्यों का भेद है तथा मूण के प्रति याग के प्रधान होने से गुणानुसार यजमान की कल्पना करना ठीक नहीं, अतः उक्त विकृति याग वैश्य यजमानवाले नहीं हो सकते।

दुज्यायां तदगुणत्वादिशेषेण नियम्येत ॥३६॥

वैश्यस्तोम नामक याग में वैश्यरूप कर्तादिवेष का नियम होना ठीक है, व्योकि उसमें वैश्य का गुणरूप से कथन पाया जाता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥

पूर्व०—विश्वजित् याग में सर्वस्व दान करना चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से सर्वस्व दान करने का विधान पापा जाता है।

यस्य वा प्रभः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात् ॥२॥

सिं—यजमान जिन वस्तुओं का स्वामी हो, उन्हीं का दान करे, अन्य का नहीं, क्योंकि अन्य वस्तु (स्त्री आदि) के दान में वह असमर्थ है।

न भूमिः स्थात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥३॥

भूमि का दान नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस पर पुत्र-स्त्री आदि अन्य सम्बंधियों का एक-जैसा अधिकार है।

अकार्यत्वाच्च ततः पुनविशेषः स्यात् ॥४॥

युद्ध के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यजमान शश आदि का दान कंदापि न करे, क्योंकि वह सर्वथा उपादेय पदार्थ है।

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥५॥

(जब आत्मदान तक कर देते हैं, फिर अश्वदान भादि का निषेध क्यों ?) आत्मा नित्य होने से प्रभृत्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

शुद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥

विश्वजित् याग में शूद्र को भी दान कर देने का अधिकार है, क्योंकि धर्मशास्त्र में उसका सेवारूप धर्म वर्णन किया गया है।

दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीषेत तद्वानसंयोगात् ॥७॥

जो दातव्य पदार्थ हों वे सब दक्षिणाकाल में ही देने चाहिए, क्योंकि उक्त याग के सम्बन्ध में ऐसा ही विवाद है।

अशेषपत्वात्तदत्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥८॥

पूर्व०—विश्वजित् याग-सम्बन्धी कोई कर्म शेष न रहने से दक्षिणाकाल में ही उसकी समाप्ति हो जाती है, याग का प्रयोजन सिद्ध होने के कारण।

अथ वा शेषकर्म स्यात्कर्तोः प्रत्यक्षिष्ठित्वात् ॥९॥

दक्षिणा के पश्चात् भी पूर्णाहुति आदि कर्म शेष रहते हैं।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

और, ऐसे ही उदाहरण भी पाया जाते हैं।

अशेषं तु समञ्चसमादाने शेषकर्म स्यात् ॥११॥

आशेष—यज्ञकर्म के पूर्ण होने पर समस्त दचे हुए शाकल्य—सामग्री को सामूर्ण कप से यज्ञानि में समर्पित कर देना चाहिए। इसी से यज्ञकर्म की पूर्ति होती है।

नावानस्यानित्यत्वात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। जो भक्षण योग्य पदार्थ हैं, उन्हें यज्ञशेष के रूप में भक्षणार्थ रखकर अथ सामग्री का हवन कर देना चाहिए।

दीक्षामु विनिवेद्यादक्षत्वर्थेन संयोगस्तस्माद्विरोधः स्यात् ॥१३॥

सिं०—(यज्ञशेष में सम्पूर्ण सामग्री का हवन कर देना लिखा है, और यज्ञशेष का भक्षण करना भी, यह परत्पर विरोध क्यों?) यज्ञशेष भक्षणार्थ ही होता है, पूर्णाहुति चारों भिन्न सामग्री की दी जाती है, अतः उक्त दोनों बातों में विरोध नहीं है।

अहर्गणे च तदूर्मः स्यात्सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥

'अहर्गण अट्टरात्र याग' विश्वजित् याग के तमान होता है, अतः उसमें भी सर्वस्व भी दक्षिणा दी जानी चाहिए।

द्वादशशतं वा प्रकृतिचत् ॥१५॥

पूर्व०—जैसे प्रकृति (ज्योतिष्टोम) याग में बारह सौ रुपये की दक्षिणा का क्षमता है, उतनी ही अहर्गण याग की दक्षिणा है।

अतद्गुणत्वात् नैवं स्यात् ॥१६॥

सिं०—उक्त कथन ठीक नहीं। अहर्गण याग में ज्योतिष्टोम के बर्म नहीं पाये जाते, परतः इस प्रकार का विवाद नहीं हो सकता। अहर्गण याग में विश्वजित् याग के भक्षण पाये जाते हैं, अतः उसी का अनुसरण करना चाहिए।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

तथा, प्रमाणों से भी ऐसा ही पाया जाता है।

विकारः सनुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥

पूर्व०—विकाररूप अहंगण याग दोनों ग्रन्थाओं में हो सकता है, अर्थात् चाहे बारह सौ रुपया हो या कम हो, क्योंकि कोई विशेषता नहीं पाई जाती ।
अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥

सिं०—सबको विश्वजित् याग करने का अधिकार नहीं, क्योंकि उसमें बारह सौ रुपये का विधान पाया जाता है ।

अनुप्रहार्छव पादवत् ॥२०॥

तथा, अधिकार का ग्रहण करने से पाद के समान बारह सौ भी बीच में आ जाते हैं ।

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिवेषस्तत् श्रुतित्वात् ॥२१॥

पूर्व०—अपरिमित दान का विधान पाये जाने से बारह सौ की नियत संख्या का निवेश पाया जाता है, क्योंकि उक्त दान में श्रुति पाई जाती है ।

कल्पान्तरं वा तुल्यवल्पसंख्यानात् ॥२२॥

सिं०—अपरिमित शब्द बारह सौ आदि संख्या का निषेषक नहीं किन्तु उक्त संख्या के बराबर संख्या कथन करने का हेतु है ।

अनियमोऽविशेषात् ॥२३॥

पूर्व०—तुल्य कह देने से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता, अतः बारह सौ और अपरिमित का समान अर्थ करना ठीक नहीं ।

अधिकं वा स्याद्बहुर्वर्त्वादितरं सन्निधानात् ॥२४॥

सिं०—अपरिमित दो सौ आदि संख्या से अधिक का बाचक है, बहुत अर्थ का बाचक होने से, क्योंकि वह द्वितीय वा साहस्र आदि संख्याओं की सन्निधि में पढ़ा गया है । भाव यह है कि विश्वजित् याग बहुत साधन सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं ।

अर्थवादश्ल तदर्थवत् ॥२५॥

इस अपरिमित शब्द में अर्थवाद का भाव भी पाया जाता है, जैसे निन्दा-स्तुति को कुछ बड़ा-बड़ाकर कह दिया जाता है, उसी प्रकार का यह अपरिमित शब्द है ।

परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यघर्मः स्यादर्थर्थं ह्यनुकीर्तनम् ॥२६॥

पूर्व०—पूर्व सृष्टि में भी मनुष्यों के घर्म वर्तमान सृष्टि की भाँति ही थे (जैसे सदाचारी सौ वर्ष जीता है) इस अर्थ के बोवनार्थ ही शास्त्रों में अनुकीर्तन कथन किया गया है ।

तद्युक्ते च प्रतिवेषात् ॥२७॥

पूर्वकल्प के मनुष्यों के घर्मों का विधान मानना ठीक नहीं, क्योंकि उनका निवेश पाया जाता है ।

निर्देशादा तद्वर्मः स्यात्पञ्चावत्वत् ॥२८॥

जब पूर्वकल्प के मनुष्यों के शरीर पञ्चभौतिक ही थे तब उनको मनुष्यघर्मा मानना ही ठीक है, उन्हें ग्रन्थीकृत मानना ठीक नहीं ।

विद्धी तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥२६॥

वेदों के वर्णन से भी ऐसा ही सिद्ध होता है कि पूर्वसृष्टि में मनुष्यों के धर्म वर्तमान सृष्टि के समान ही थे।

अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्स्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३०॥

सिं०—वेदों के प्रमाण उपलब्ध होने से यह सिद्ध होता है कि सहस्रों वर्ष की आयु का कथन अर्थवाद है, अतः वेदार्थ का ही अनुवादक अर्थवाद है, अन्यार्थ का विवादक नहीं।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामस्मभवान्मनुष्येषु ॥३१॥

पूर्व०—‘पूर्वकल्प में लोगों की आयु सहस्रों वर्ष की थी’ ऐसे कथन पाए जाने से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकल्प के लोगों में मनुष्य के धर्म न थे, क्योंकि वर्तमान सृष्टि में मनुष्य की इतनी आयु नहीं होती।

अपि वा तदधिकारान्मनुष्यवर्मः स्यात् ॥३२॥

अध्ययनाध्यापन में मनुष्यों का अधिकार पाये जाने से भी वे लोग मनुष्यवर्म ही नात होते हैं, देव नहीं।

नासामव्याप्तिः ॥३३॥

सामध्यं का अभाव होने से कल्पित देवताओं का अध्ययन में सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

सम्बन्धदर्शनात् ॥३४॥

सिं०—अग्नि, वायु आदि जड़ देवताओं में अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

स कुल्यः स्यादिति काण्डाजिनिरेकस्मन्सम्भवात् ॥३५॥

आनार्य काण्डाजिनि का मत है कि जो दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त अध्ययन लिखा है, वह एक कुल का है, क्योंकि एक पुरुष में उक्त अर्थ की असम्भवता पाई जाती है।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—शास्त्र में जो कृत्स्न शब्द आया है, उससे एक व्यक्ति का ही आशय गिराता है।

विप्रतिवेदात् गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ॥३७॥

समा०—पूर्वोत्तर विरोध पाये जाने से लावुकायन ऋषि यह मानते हैं कि दिव्य सहस्र वर्ष का अध्ययन भोग है।

संवत्सरो वा विचालित्वात् ॥३८॥

संवत्सार शब्द एक अर्थ का वाचक नहीं है (यह अन्य समाधान है), संवत्सर शब्द कहीं वर्ष का वाचक है, कहीं ऋतुओं का और कहीं दिन का।

सा प्रकृतिः स्यादविकारात् ॥३९॥

सहस्र संवत्सरोंवाले मनुष्य का ही यहीं ग्रहण होता है, क्योंकि अध्ययनाध्यापन में वह दैरों का अधिकार नहीं हो सकता।

अहमिन वाऽभिसंख्यात्वात् ॥४०॥

सिं—संवत्सर दिन के वर्षन में भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि एक दिन में छहों अष्टुओं के वर्तने का वर्णन पाया जाता है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने खण्डाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

अष्टमः पादः

इष्टपूर्वत्वादक्षतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु

स्यादपूर्वोऽध्याधानस्य सर्वज्ञेष्वत्वात् ॥१॥

पूर्व०—यज्ञ का अनञ्जभूत प्रजा की कामनार्थ चतुर्होत्र नामक याग अन्य होमों का अञ्ज होने के कारण अपूर्व होने पर भी पवमान इष्टसाध्य होने से संस्कृत अग्नियों में ही किया जाना चाहिए ।

इष्टत्वेन तु संस्तवदक्षतुहोत्रनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥२॥

समां—इष्टरूप जो स्तुति की जाती है, उससे प्रतीत होता है कि चतुर्होत्र को असंस्कृत अग्नि में ही करना चाहिए ।

उपदेशस्वपूर्वत्वात् ॥३॥

(जब उक्त होम असंस्कृत अग्नियों में ही होता है, पुनः उसके विवान की क्या आवश्यकता है ?) पूर्वोक्त होमों का उपदेश अपूर्व विविध के अभिप्राय से है ।

स सर्वेषामविज्ञेषात् ॥४॥

पूर्व०—पूर्वोक्त विविध यज्ञ के अञ्जभूत और अनञ्जभूत दोनों प्रकार के होमों का विवान करती है, इसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती ।

अथ वा क्रत्वाभावादनहितानेनरवेष्वभूतनिर्देशः ॥५॥

सिं—जो कर्म यज्ञ के अञ्जभूत नहीं है, वे अनाहिताग्नियों में किये जाएँ ।

जपो वाऽनग्निसंयोगात् ॥६॥

आक्षेप—अनाहिताग्नियों की इष्ट अर्थवाद है, उसका अग्नि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता ।

इष्टत्वेन संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात् ॥७॥

समां—इष्टरूप से वर्णन किये जाने के कारण उक्त चतुर्होत्र कर्म होम है, कोरा अर्थवाद नहीं, तथा अन्य कमों का वाचक न होने से अनाहिताग्नि के साथ उसका सम्बन्ध पाया जाता है ।

उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥

आक्षेप—जैसे पितृयज्ञ को आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं, वैसे ही चतुर्होत्र को भी दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं ।

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेनरारभ्याग्निसंयोगात् ॥९॥

समां—चतुर्होत्र याग का अनाहिताग्नि में ही निर्देश पाया जाता है, क्योंकि इसी अग्नि के साथ उक्त होमों का सम्बन्ध है ।

पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥१०॥

पितृयज्ञ में आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के बोधक भिन्न-भिन्न वचन पाये जाते हैं, अतः उसका इष्टान्त चतुर्होन्म में देना ठीक नहीं।

उपनयन्नाधीत होमसंयोगात् ॥११॥

पूर्व०—उपनयनकाल में आहिताग्नि में यज्ञ करे, क्योंकि उसका होम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

स्वपतिवल्लौकिके वा विद्याकर्मातुपूर्वत्वात् ॥१२॥

सिं—उपनयन कर्म 'स्थर्पति' इष्टि के समान लौकिकाग्नि में ही करना चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश्य ब्रह्मविद्या में प्रवृत्त होना है।

आवानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥

और, अग्न्याधान का अधिकार विवाद्ययन के पश्चात् विवाहित पुरुष को ही है, अतः उपनयन-सम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में करना चाहिए।

अकर्म चोर्ध्वंमाधानात्तसमवायो हि कर्मभिः ॥१४॥

जो अग्न्याधान के पश्चात् भार्या ग्रहण करता है, वह अकर्म है, क्योंकि कर्मों के साथ उस भार्या का सम्बन्ध उपनयनकाल के पश्चात् होता है।

श्राद्धविदित चेत् ॥१५॥

श्राद्धकर्म के समान उपनयन-सम्बन्धी हवन आहित और अनाहित दोनों अग्नियों में किया जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दो भार्याओं से विवाह का निषेध पाया जाता है।

सर्वार्थत्वात्त्वं पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥

धर्मादि सब प्रकार के प्रयोजनों के लिए होने से स्त्री सहृदयिणी कहलाती है, केवल पुत्ररूपी प्रयोजन से नहीं।

सोभपानात् प्राप्तयं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१८॥

सोभपान करनेवाला (वैदिकधर्मी) दूसरी भार्या की अभिलाषा नहीं रखता।

पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्तीयेत ॥१९॥

पितृयज्ञ आहिताग्नि (आहाणादि) और अनाहिताग्नि (शूद्रादि) दोनों के लिए कठिन है, अतः उसे दोनों प्रकार से करने का विश्वान है, परन्तु उपनयन में ऐसा विधान नहीं।

स्वपतीष्टि: प्रजावदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थाच्चिदापवृज्येत् ॥२०॥

पूर्व०—स्वपति इष्टि प्रयोज के समान अग्न्याधान के आश्रय से होती है और यह के अभिप्रायवाली होने से उसका आहिताग्नि के साथ सम्बन्ध है।

अपि वा लौकिकेऽन्नो स्यादाधानस्यासर्वेषोवत्त्वात् ॥२१॥

सिं—स्वपति अग्नि का अनुष्ठान लौकिकाग्नि में होना चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान कर्म सबके लिए नहीं है।

अवकीर्णिषुरुच तद्वायानस्याप्राप्तकात्सत्वात् ॥२२॥

जिस बहाचारी का ब्रह्मवर्यंत्र खण्डित हो जाए उसे गधे का स्पर्श करके 'अवकीर्ण इष्ट' लौकिक अभिन में करनी चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान का काल प्राप्त नहीं है ।

उदगयनपूर्वपक्षाहः पुण्याहेषु देवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ॥२३॥

चूडाकर्मादि कर्म पवित्र दिनों में किया जाना चाहिए, क्योंकि देव-सम्बन्धी कर्म शुभ दिनों में ही किये जाते हैं । स्मृतियों में भी ऐसा ही विधान पाया जाता है ।

अहनि च कर्मसाकल्यम् ॥२४॥

तथा, उक्त सब कार्य दिन में ही करने चाहिए ।

इतरेषु तु पित्राणि ॥२५॥

पित्र्यकर्म सब दिनों में करने चाहिए ।

याऽच्चाक्रयणमविव्रमाने लोकवत् ॥२६॥

पूर्व०—भिक्षा और सौम का क्रयण सब कालों में होना चाहिए, जैसा कि लोक में पाया जाता है ।

नियतं आर्यवत्त्वात्सत्यात् ॥२७॥

सिं०—भिक्षा आदि नियत काल में करनी चाहिए, नियत काल में करने से ही ते अर्थवाले अर्थात् कतुरूप अपूर्व के जनक होते हैं ।

तथा भक्तप्रेषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ॥२८॥

तथा, उक्त प्रकार भक्त—यवाग् आदिवत्र, प्रैष = प्रेषितथ, आच्छादन = दर्भमय आच्छादन, संज्ञप्तहोम और द्वेष = 'योऽस्मान् द्वेष्टि' इत्यादि वाक्योक्त कर्म नियत काल में ही होते हैं ।

ग्रन्थकं त्वनित्यं स्यात् ॥२९॥

भिक्षा आदि कर्मों को नियमपूर्वक न किया जाए, तो ये कर्म स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद हो सकते हैं ।

पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

पूर्व०—'पशून् पाहि' इत्यादि मन्त्र द्वारा पशु-रक्षा का कोई विशेष नियम नहीं है, किसी पशुविशेष की रक्षा का नियम नहीं है, सब प्रकार के पशुओं की रक्षा का उपदेश है ।

छापो वा मन्त्रवर्णात् ॥३१॥

सिं०—यदि कोई कहे कि वेद में बकरे को मारकर हृत करने का विधान है, तो—

न चोदनाविरोधात् ॥३२॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र से विरोध हो जाता है ।

आर्वेयवदिति चेत् ॥३३॥

'आर्वेय वृणीते' वाक्य के समान 'पशून् पाहि' का आशय गो आदि विशेष पशुओं की रक्षा से है, उसका सब पशुओं से सम्बन्ध नहीं, यदि ऐसा माना जाए तो—

न तत्र ह्युचोदितत्वात् ॥३४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, वयोंकि वेद में निश्चय ही पशुविशेष की रक्षा का विधान नहीं पाया जाता, अपितु पशुगात्र की रक्षा का विधान है।

नियमो वैकार्यं हृथेभेदाद्भेदः पृथक्वेनाभिधानात् ॥३५॥

उक्त मन्त्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है परन्तु छाग = बकरा एक विशेष पशु है, भेदरूप से कथन किये जाने के कारण, इसकी गिनती उनमें हो सकती है।

अनियमो वार्यान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकदाव्याम् ॥३६॥

वेद में किसी विशेष पशु की रक्षा का नियम नहीं है। भिन्न शब्द की वाच्यता होने से अनियम है और भिन्न व्याख्यानों से भेद पाया जाता है। [वेद में स्पृष्ट कहा है—‘मा मा हिसोः’, ‘अवि मा हिसोः’, ‘मा हिसीरेकशफम्’ (यजु० १३।४३, ४८) अर्थात् शाय को मत मारो, भेड़ को मत मारो, एक खुरवाले पशुओं को मत मारो।]

न वा प्रयोगसमवायित्वात् ॥३७॥

सिं—शब्दों का ठीक-ठीक शर्यं उनके प्रयोग से जाना जा सकता है।

रूपालिङ्गाच्च ॥३८॥

पूर्वं—रूप और लिङ्ग से भी छाग = बकरे का वध पाया जाता है (‘यागाच्च छिष्ठ इति छागः’ जो याग के लिए काटा जाए उसे छाग कहते हैं।)

छागेन कर्माण्या रूपलिङ्गाभ्याम् ॥३९॥

सिं—रूप और लिङ्ग से वह अर्थ बकरे में नहीं पट सकता अपितु यज्ञ के लिए जिन पदार्थों को छेदा = काटा जाता है, वे छाग संजावाले हैं।

रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यत् ॥४०॥

रूपों में भिन्नता होने के कारण ‘छाग’ से किसी जाति का आशय ग्रहण नहीं करना चाहिए।

विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ॥४१॥

यज्ञ में पशु-हवनरूप विकार इष्ट नहीं, वयोंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याच्चोदितत्वात् ॥४२॥

वेद में ‘छाग’ शब्द योगिक है, और उस वर्णन से पशुविशेष नहीं माना जा सकता।

जातेवा तत्प्रायवचनार्थं वत्त्वाभ्याम् ॥४३॥

जातिवाचक शब्दों के साथ पढ़े जाने और प्रयोजनबाला होने से छाग शब्द जाति का एक है (छाग एक विशेष प्रकार की श्रोपषि का नाम है, जो सुगन्धिरूप प्रयोजन के लिए यज्ञ की सामग्री में ढाली जाती थी)।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाव्यायस्याष्टमः पादः ॥

॥ इति षष्ठोऽव्यायः ॥

सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषणां मुख्येदे यथाधिकारं भावः स्यात् ॥१॥

सिं—जिस अपूर्व का जो प्रयाजादि शेष है, यहाँ प्रकरणानुसार उन धर्मों की व्यवस्था की जाती है और श्रुति-प्रमाण से यह सिद्ध किया जाता है कि यह इस कर्म का शेष है।

उत्पत्त्यर्थाविभावाद्वा सत्त्वबद्विषयं स्यात् ॥२॥

पूर्व०—यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अतः यजन और अपूर्व का विभाग सम्भव नहीं। सभी यजन अपूर्वाले होते हैं, गोत्व जाति की माँति।

चोदना दोषभावाद्वा ताद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरनुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥३॥

सिं—कर्म की प्रेरणा का दोषभाव होने तथा अपूर्वों का भेद होने से और यजन का उस प्रेरणा में गौण भाव रहने के कारण प्रकरण के प्रनुसार ही उसकी व्यवस्था की जाती है। ‘दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्’ में ‘दर्शपूर्णमासी’ विशेष है और ‘यजेत्’ सामान्य है। यहाँ केवल कर्तव्यता ही बताई जाती है, क्योंकि अपूर्व यजन के समाप्त होने पर ही होता है।

सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत ॥४॥

सत्त्व (गोत्व आदि) को लक्ष्य करके जो भी धर्म कहा जाता है, वह सार्वत्रिक होता है।

अविभागात् नैवं स्यात् ॥५॥

पूर्व०—अपूर्व प्रयुक्त जो धर्म बताये जाते हैं, वे यह यजन प्रयुक्त ही समझते चाहिए, क्योंकि धर्मों का यजन के साथ कोई विभाग नहीं होता।

द्वयर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ॥६॥

दो प्रकार के अर्थों का मानना अन्यथा है।

उत्पत्तो विष्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्तत्त्वं कर्मभेदः स्यात् ॥७॥

सिं—यजन में विधि का अभाव होने के कारण अपूर्व में प्रयाजादि धर्मों की प्रवृत्ति होती है, इससे पुनः कर्म का भेद हो जाएगा।

यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ॥८॥

आक्षेप—यद्यपि अपूर्व धर्मों का प्रयोजक होता है तो भी अभिधान के समान सामान्यतया वह सर्वधर्मवाला होता है।

अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववस्त्रातप्रयोगस्य कर्मणः

शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ॥१॥

समात्—प्रयोग के पूर्ववत्त्र होने से तथा अर्थ के नियत होने से अभिधानों में तो ऐसा हो सकता है परन्तु कार्यों के शब्दमात्र होने से विभाग होने के कारण प्रयाजादि शेष कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी ।

समृतिरिति चेत् ॥१०॥

समृति है, यदि ऐसा कहो तो—

न पूर्ववस्त्रात् ॥११॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वे पूर्व अर्थात् प्रकृतियामवालों के घर्म हैं ।

अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिवन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ॥१२॥

अङ्गकलाप के शब्दभाव्य होने से तथा प्रकरण के साथ सम्बन्ध होने से अतिदेश शास्त्ररूप शब्द से विकृतियाम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है ।

समाने पूर्ववस्त्राद्वृत्पन्नादिकारः स्यात् ॥१३॥

पूर्वं—समानमितरत् इयेनेन—इस वाक्य में अनुवाद है, ज्योतिष्टोम की विकृति होने से ।

इयेनस्येति चेत् ॥१४॥

ज्योतिष्टोमों का अनुवाद नहीं है, श्येन के ग्रहण करने की सामर्थ्य से, यदि ऐसा कहो तो—

नासन्निधानात् ॥१५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सन्निधान न होने से श्येन के वैशेषिकों का अनुवाद युक्त नहीं हो सकता ।

अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्ये ज्यौतिष्टोमिकाद्विषेषतद्वाचकं

समानं स्यात् ॥१६॥

सिं—उक्त वाक्य विधायक हो जाएगा । ज्योतिष्टोम विधि से जो श्येन वैशेषिक अधिक हैं, वे अतिदिश्यमान हो जाते हैं । उसका वाचक समान शब्द होता है ।

पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादादिदेशः सन्निधानात् ॥१७॥

पूर्वं—पञ्च हवियों के सञ्चर में सन्निधान होने के कारण केवल अर्थवाद का अतिदेश हुग्रा करता है ।

सर्वस्य बैकशब्दात् ॥१८॥

सिं—अर्थवाद मन्त्र का ही अतिदेश होता है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सविधिक और साथवादक समस्त काण्ड का अतिदेश होता है ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१९॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है ।

विहितान्मानान्नेति चेत् ॥२०॥

विहित आमनान से यह नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

नेतरार्थत्वात् ॥२१॥

उक्त कथन ठीक नहीं । विषि का अतिदेश होने पर भी अग्नि-गन्धन आदि आम्नानों की निरर्थकता नहीं होती ।

एककपालंन्द्राम्नो च तद्वत् ॥२२॥

जिस प्रकार वैश्वदेव-सत्र में एककपाल और ऐन्द्राम्नी में द्वादश कपाल आम्नान हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी सविविक और सार्थवादक काण्ड का अतिदेश होता है ।

एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वंहोमापरिवृत्तिः

दर्शनादवभूते च सकृद् द्वच्यवदानस्य वचनात् ॥२३॥

आग्रयण में समस्त होम की अग्रवृत्ति के देखे जाने से एककपाल की वैश्वदेविक प्रकृति होती है, अतः यहाँ वरुणप्रधासिक एककपाल का ग्रहण होता है और अवभूत में एक बार द्वच्यवदान का वचन होने से एककपाल का ग्रहण होता है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्थाद्यथाशिष्टम् ॥१॥

पूर्वं०—साम (स्तोम आदि से विशिष्ट ऋक्) की प्रवृत्ति अभिधान शब्द के द्वारा तुर्स्निष्ठा-परम्परा से होती है ।

शब्देस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्थात् पृथग्भावात्क्रियाया

हृनिसम्बन्धः ॥२॥

सिं०—शब्दों के द्वारा अर्थ की विषि होने से अन्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती । गान-क्रिया का शब्द के साथ अभिसम्बन्ध होता है, शब्द का नहीं, शब्द तो पृथक् ही अवस्थित होता है ।

स्वार्थे वा स्थात्प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिष्टयेत् ॥३॥

पूर्वं०—स्वार्थ में विद्वामान ‘अभिवती’ और ‘कवती’ ऋचाओं का अङ्गभाव से उपदेश करना चाहिए ।

शब्दमात्रमिति चेत् ॥४॥

आलेप—केवल शब्द का ही विवान है, यदि ऐसा कहो तो—

तेनोत्पत्तिकत्वात् ॥५॥

समां०—उक्त कथन ठीक नहीं । नाम और नामी का श्रोत्पत्तिक सम्बन्ध होता है । जो शब्द जिस अर्थ में श्रोत्पत्तिक सम्बन्ध से प्रसिद्ध होता है, वह अन्य अर्थ के बताने में समर्थ नहीं होता ।

शास्त्रं चैवमनर्थकं स्थात् ॥६॥

और, यदि ऐसा माना जाए तो वह अतिदेश-शास्त्र निरर्थक हो जाएगा ।

स्वरस्येति चेत् ॥७॥

आलेप—साम शब्द से स्वर का विधान है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थमावात् शुतेरसम्बन्धः ॥८॥

समा०—अभिवती स्वर का कवती में अभाव होने से श्रुति के पदों का परस्पर अभिसम्बन्ध नहीं होता, अतः स्वर का अतिदेश नहीं होता ।

स्वरस्तुपतिष्ठु स्यात्मात्रावर्णविभक्तत्वात् ॥९॥

आख्ये—बहुत-से वर्ण और मात्राओं के अविभक्त होने से उत्पत्तियों—उच्चारणों में स्वर होता है, अतः स्वर का अनुबाद होता है ।

लिङ्गदर्शनात्त्वं ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त वर्ण की सिद्धि होती है ।

अश्रुतेत्तु विकारस्योत्तरात् यथाश्रुति ॥११॥

समा०—कवती आदि उच्चारों में स्वाध्यायकाल में जिस रीति से पाठ किया जाए उसी रीति से गान-संग्रह में पाठ किया जाए तो ‘कवतीषु रथन्तरं गायति’ यह गायति निरर्थक हो जाएगा, अतः स्वर का अनुबाद ठीक नहीं ।

शब्दानां चासामञ्जस्यम् ॥१२॥

और, ऐसा मान लेने पर रथन्तर आदि साम शब्दों का असामञ्जस्य हो जाएगा ।

अपि तु कर्मशब्दः स्यादभावोऽर्थः प्रसिद्धप्रहृष्टत्वाद्विकारो
हृषिविशिष्टोऽन्यैः ॥१३॥

तिं—रथन्तर शब्द गानरूप कर्म का वाचक है। ‘गायति’ शब्द के गान में प्रसिद्ध होने से रथन्तरादि शब्द का ग्रहण होता है तथा हस्तव-दीर्घ आदि का विकार अन्य शब्दों कर्मों द्वारा अवशिष्ट होता है ।

अद्वयं चापि वृद्धयते ॥१४॥

तथा, साम अनूच दिखाई देता है। उच्चार में साम शब्द का प्रयोग नहीं होता, गीति में ही साम का प्रयोग होता है ।

तथ्य च किया ग्रहणार्थं नामार्थेषु विलिप्तवाक्यों ह्यासामलीकिको विद्यानात् ॥१५॥

विविद रूप होने से उस (रथन्तर) की क्रिया शर्कर्गकाल (यज्ञ न करने) में विकार एवं अभ्यास के ग्रहण करने के लिए होती है। रथन्तर आदि संज्ञावाली उच्चा का अर्थ गुण-शिष्य-परम्परा के कारण अलौकिक हुआ करता है ।

तस्मिन्संज्ञा विशेषाः स्युविकारपृथक्त्वात् ॥१६॥

उस गान नामक संहकार में गान के स्वरूपों के भिन्न-भिन्न होने से उनकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ होती हैं ।

योनिशस्याद्वच तुल्यवदितराभिविवीयते ॥१७॥

‘योनिशस्या’ उच्चारें तुल्य की भाँति इतर अर्थात् ‘अयोनिशस्या’ उच्चारों के हासा विधान की जाया करती हैं ।

अयोनीं चापि वृद्धयतेऽत्यायोचिः ॥१८॥

अयोनि में साम दिखाई देता है। अधिक अथवा न्यून उच्चारवाला साम देखने में असाधा है ।

एकार्थं नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥१६॥

ग्रामेष—जहाँ दोनों का एक ही अर्थ होता है, वहाँ वैरूप्य नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादवर्थन्तरेवनिष्पत्तेर्था लोके ॥२०॥

समाँ—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थान्तर में निष्पत्ति हो जाएगी। जैसे पाक में आदेन और गुड़ का पाक भिन्न लक्षणवाला होता है, अतः वैरूप्य होता ही है।

शब्दानाङ्ग सामञ्जस्यम् ॥२१॥

इस प्रकार साम और कृतृ शब्दों का सामञ्जस्य हो जाएगा। कवती शब्द कृता को और रथन्तर साम को बताता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

उक्तं क्रियाभिधानं तत् श्रुतावन्यत्र विदितप्रदेशः स्यात् ॥१॥

सिं—अग्निहोत्र शब्द नामधेय है, यह पहले कहा गया है। अन्यत्र (कुण्ड-पायिनामयन में) अग्निहोत्र शब्द के अवण में धर्म का अतिदेश है।

पूर्वे वापि भागित्वात् ॥२॥

पूर्वे—‘भागिनिहोत्र’ में विद्यान अग्निहोत्र शब्द कर्म का नाम है, दोनों कर्म अपूर्व में होते हैं, अतः इस नामधेय का ‘जुहोति’ भी भागी होता है, इसलिए अतिदेश नहीं होता।

नामस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥३॥

उपरपक्ष—नाम और नामी का श्रौतपत्तिक सम्बन्ध होता है। जिस अर्थ में जो नाम श्रौतपत्तिक सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है, वह सदा उसी से जानने योग्य होता है, अन्य से नहीं। यहाँ अन्य के अभिधान में कोई हेतु नहीं, अतः अतिदेश होता है।

प्रत्यक्षाद्बुगुणसंयोगातिक्राभिधानं स्यात्तद्भावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥४॥

नैयायिक अग्निहोत्र में प्रत्यक्ष गुणसंयोग होने से दोहन आदि क्रिया का आभिधान होता है। वहाँ पर प्रत्यक्ष विदित धर्म होते हैं, इसके अभाव में यह सब अप्रसिद्ध होता है।

अपि वा सर्वत्र कर्मण गुणार्थं श्रुतिः स्यात् ॥५॥

प्रकृति और विकृति याग में श्रुति गुणार्थवाली होती है अर्थात् लक्षण से नामधेय धर्मों का प्राप्त हो जाता है। श्रुतार्थं न होने पर लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण कर लेना चाहिए।

विश्वजिति सर्वपूष्ठे तत्पूर्वकत्वात्योत्तोमिकानि वृष्टान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ॥७॥

‘विश्वजित् सर्वपूष्ठोत्तिरात्रो भवति’ वाक्य में व्योतिष्ठोमगत जो पूष्ठ कहा गया

है, वह अनुवाद है, क्योंकि ज्योतिष्टोम की विकृति विश्वजित् याग है। माहेन्द्रादि चार स्तोत्रों में भी पृष्ठ शब्द प्रयुक्त है।

पञ्चाद्वा तत्र हि चोदना ॥७॥

सि०—चह दिवरों में साध्य याग में जो चह (रथन्तर, बृहत्, वैराज, रेवत और शाक्वर) स्तोत्र बताये गये हैं, वहाँ ज्योतिष्टोम के ही छह पृष्ठों का अतिदेश है, क्योंकि विश्वजित् के ठीक पूर्वं ज्योतिष्टोम का उल्लेख है और पृष्ठ शब्द से इन्हीं पृष्ठों का बोध होता है।

लिङ्गाच्च ॥८॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

उत्पन्नाधिकारी ज्योतिष्टोमः ॥९॥

ज्योतिष्टोम याग उत्पन्न अधिकारवाला है।

इत्योर्विधिरिति चत् ॥१०॥

आक्षेप—ज्योतिष्टोम में बृहत् और रथन्तर दोनों का अधिकार है, यदि ऐसा कहो तो—

न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर 'सर्वं' शब्द व्यर्थ हो जाएगा। 'सर्वं' शब्द का प्रयोग दो में नहीं हो सकता।

तथावृभूथः सोमात् ॥१२॥

सि०—जिस प्रकार घटह याग से नेष्टों का अतिदेश होता है, उसी प्रकार सौमिक अवगृथ से यहाँ वर्मातिदेश होता है।

प्रकृतेरिति चत् ॥१३॥

आक्षेप—दर्शपीणमास में प्राप्त अवगृथ गुणविधि हो जाए, यदि ऐसा कहो तो—
न भवित्वात् ॥१४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दर्शपीणमास में अवगृथ नहीं होता, अवगृथ का प्रयोग केवल स्तुतिपरक है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

त्रिव्यादेश तद्वद्व्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशो तत्प्रकृतित्वात् ॥१६॥

त्रिव्यादेश में तुष्णिनिष्कास श्रुतिसंयोग से द्रव्य है, क्योंकि तुष्णिनिष्कास प्रत्यक्ष सुना जाता है। प्रत्यक्ष श्रुति न होने से पुरोडाश तो आनुमानिक है, वह अतिदेश से प्राप्त किया जाता है। तत्प्रकृतित्व होने से ही पुरोडाश का ग्रहण होता है।

गुणविधिरतु न गृह्णीयात्समत्वात् ॥१७॥

प्रातिष्ठ का गुण विष्यु देवता के संयोग का विधान करता है—यह गुणविधि । यह सम होने के कारण घर्मी का ग्रहण नहीं कर सकती।

निर्मन्त्यादिवृ चंचम् ॥१८॥

प्रमीयोमीय पशु याग के प्रकारण में 'निर्मन्त्य' शब्द आता है और दर्शपीणमास

के प्रकरण में 'इहि' तथा 'आज्ञ' शब्द आये हैं। 'विष्णु' की भाँति ये शब्द भी ग्रीगिक हैं, अतः इनके धर्मों का अतिवेश नहीं होता।

प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत् ॥१६॥

अग्नि-प्रणयन सौमिक है, क्योंकि अग्निव इसका विवान नहीं किया गया है।

उत्तरवेदिप्रतिवेदश्च तद्वत् ॥२०॥

और, उत्तरवेदि सौमयाग प्रणयन में होती है, इससे भी यह सिद्ध है कि अग्नि-प्रणयन सौमिक है, क्योंकि प्रतिवेद प्राप्त का ही होता है।

प्राकृतं वाऽनामत्वात् ।-२१॥

सिं—प्रवृत्तिभूत दर्शपीण्मासिक याग का प्रणयन है, क्योंकि उस प्रकरण में प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन का नाम न होने से प्राकृत ही है।

परिसंख्यार्थं श्रवण मुणार्थं मर्थवादो वा ॥२२॥

'अवाच्यं हीतरत्'—वाक्य परिसंख्या के लिए है या मुणार्थ है, अथवा अर्थवाद के लिए है। परिसंख्या में तीन दोष होते हैं। किसी गुण का भी विवान नहीं किया जाता और परिशेष में जो अर्थवाद है, वह प्रयत्ननरहित होता है।

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिवेदात् ॥२३॥

उत्तरवेदि के प्रतिवेद होने से प्रथम और उत्तम का अग्नि-प्रणयन होता है।

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥२४॥

सिं—मध्य पर्वों का गत्यार्थवाद होने से प्रणयन होता है।

ओत्तरवेदिकोऽनारम्भवादप्रतिवेदः ॥२५॥

किसी पर्व-विशेष को आरम्भ न करके ही उत्तरवेदि का प्रतिवेद होता है।

स्वरसाम्बकपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात् ॥२६॥

अथवा, स्वरसाम्ब एकपाल और आमिक्षा—ये तीनों शब्द धर्म का अतिवेश करते हैं, लिङ्गबोधक वचनों के पाथे जाने से।

चोदनासामान्यादा ॥२७॥

अथवा, स्वरसाम्ब सामान्य से, एकपालत्व सामान्य और आमिक्षा सामान्य से लिङ्ग के लक्षण का परियह होता है।

कर्मजे कर्म यूपवत् ॥२८॥

पूर्व०—कर्म से उत्पन्न वास आदि द्रव्य के श्रूगमण होने पर कर्म किया जाता है, जैसे जोपण आदि क्रिया के निमित्त यूप से जोषण आदि क्रियाएँ ही प्राप्त होती हैं।

रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥२९॥

सिं—क्रिया के शेषभूत न होने से वे आकृति अर्थात् जातिवाचक हैं।

विशेषे लौकिकः स्यात्तर्वार्थत्वात् ॥३०॥

संशय होने पर लौकिक अग्नि का उपधान समझना चाहिए, क्योंकि लौकिक अग्नि का कोई कार्य निर्दिष्ट नहीं होता।

न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥३१॥

सिं—शास्त्र के द्वारा कार्य का निर्देश होने से वह वैदिक नहीं होता, वैदिक को

भी थरि सर्वार्थ मान लिया जाए तो शास्त्र द्वारा कार्य का निर्देश निरर्थक हो जाता है ।

तथोत्तमिरितरेणां समत्वात् ॥३२॥

इतर वैष्णव अनियों के भी समान होने से उसी प्रकार से उत्पत्ति होती है ।
इनका कार्य भी निर्दिष्ट होता है ।

संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥३३॥

पूर्व०—उपशम (११ गुणों में से अन्तिम गुप को उपशम कहते हैं) इव्य संस्कृत होने चाहिए । गुप शब्द से गुपधमों का अतिदेश होता है ।

भवत्या बाऽप्यज्ञेयत्वाद्गुणानमभिधानत्वात् ॥३४॥

सिं०—गौण वृत्ति से गुप शब्द का प्रयोग होने से, गुणों का अभिधान न होने से तथा यज्ञ के अङ्ग न होने से भी गुप के संस्कारों की आवश्यकता है ।

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्त्वाभूतोपदेशात् ॥३५॥

पूर्व०—पृष्ठ शब्द कर्म का वाचक है, तथा भूत उपदेश होने से यह सिद्ध है ।

अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् इव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ॥३६॥

सिं०—‘पृष्ठैरुपतिष्ठति’ इत्यादि तथा ‘अभित्वा ज्ञात्’—इत्यादि ज्ञानव्यों में पृष्ठ शब्द ज्ञानार्थों का वाचक है । वहाँ आत्मनेपद होने से विप्रतिषेध भी होता है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

इतिकर्तव्यताऽपिवर्येयते: पूर्वक्त्वम् ॥१॥

इतिकर्तव्यता (करने की शीति न बताने) का विवान न करने से सौदंयाम में पूर्ववत्ता है अर्थात् अन्यथा विहित धर्मों का उसमें अतिदेश है ।

स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥२॥

पूर्व०—इतिकर्तव्यता का उपाय लौकिक होता है, क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति = अतिदेश दृष्ट होता है ।

वचनात् ततोऽन्यत्वम् ॥३॥

प्रत्येक स्थान पर लौकिक इतिकर्तव्यता होती है, ऐसा नियम नहीं है । जहाँ वैदिक इतिकर्तव्यता के विषय में प्रत्यक्ष वचन है, वहाँ वह वैदिकी होती है ।

लिङ्घेन वा नियम्येत् लिङ्घस्य तद्गुणत्वात् ॥४॥

सिं०—इतिकर्तव्यता लिङ्घवाक्य से नियम्य हुआ करती है । प्रयाजादि वैदिक ग्रामपूर्व के गुण होते हैं । जो लिङ्घ होता है, वह उनके गुणवाला होता है ।

अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः ॥५॥

पूर्व०—ऐसे लिङ्घों द्वारा वैदिकी इतिकर्तव्यता नियत नहीं की जा सकती, क्योंकि यह अन्यायपूर्वक होनी योग्य नहीं । न्यायपूर्वक वचन ही उसका साधक होता है । जहाँ पर नित्यानुवाद वचन होते हैं, वहाँ पर ही वैदिकी इतिकर्तव्यता हुआ करती है ।

मिथो वा विप्रतिवेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥६॥

और, लौकिक तथा वैदिक—दोनों इतिकर्तव्यताएँ एकसाथ प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि दोनों का आपस में विप्रतिवेध हो जाएगा। यदि दोनों की सहमत्वात् मानी जाए तो एक के हारा कर्म निरेत्र होता है और दूसरी की प्रवृत्ति प्रतिविद्ध होने से गुणों की यथार्थ कल्पना हो जाएगी।

भागित्वात् नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानबद्धया

बेनुः किञ्चोरेण ॥७॥

समान भागित्व होने पर गुणों के अधिधान होने से दोनों में वैदिकी इति-कर्तव्यता हो जाएगी। सौर्योदि में दृश्यमान प्रयाजादि गुण इस अर्थ में अधिधायक होते हैं जैसे किंचोर लिङ्ग से धेनु शब्द गोधेनु में दृष्ट-प्रवृत्तियाला होने पर भी अश्वेनु का भी भारी होता है।

उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाविकारं भावः स्यात् ॥८॥

पूर्व०—प्रयाज भीर अनुयाज आदि को उत्पत्ति के समान होने से अधिकार के प्रमाण से अस्तित्व होता है।

उत्पत्तिशेषवद्यतं च विप्रतिविद्धमेकस्मिन् ॥९॥

एक ही वाक्य में प्रवान की उत्पत्ति और अङ्गों का वचन सम्बन्ध नहीं। जो प्रधान उत्पन्न होता है, वह अङ्गों की अपेक्षा किया करता है।

विद्यमत्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रकर्त्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥१०॥

दर्शनपीठमास के समान सौर्याग विधि में पुरोडाश आदि सम्भूर्ण सम्बन्ध पाये जाते हैं। इससे प्रयाजादि लिङ्गदर्शन का समर्थन हो जाता है।

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥११॥

सिं—प्रयाजादि वाचक शब्द के अवण से वैदिक अभ्युपाय होता है और जहाँ कोई लिङ्ग नहीं होता वहाँ लौकिक विधान होता है।

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशावदसामान्यादेवेनापि

निलम्प्येत प्रथा स्थालीपुलावेन ॥१२॥

प्रयाजादि लिङ्ग के पूर्ववत्त्व होने से कर्मवीधक विविषद् सामान्य है तथा स्थाली-पुलाक न्याय के समान वैदिक इतिकर्तव्यता का निष्पत्त करता है।

द्वादशाहिकमहर्णणे तत्रकृतिस्त्वावेकाहिकमधिकागमात्

तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥१३॥

पूर्व०—अहर्णण नामक याग में द्वादशाह नामक याग के धर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि एकाहिक याग द्वादशाह याग की विकृति हैं। एकाह सम्बन्धी समाख्यान हैं—ज्योति, गौ, आदि आदि। ज्योतिष्ठोम में जो अधिक धर्मों की प्राप्ति होती है, वह तदाख्य है एकाह के समान।

लिङ्गाच्च ॥१४॥

प्रमाणों के पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि द्वादशाह का अनुष्ठान करता जाहिए।

न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ॥१५॥

सि०—द्वादशाह नहीं करना चाहिए, एकाहिक ही कर्तव्य है, क्योंकि चोदक के द्वारा द्वादशाह की प्राप्ति होती है और नामधेय से एकाहिक प्राप्ति होता है। प्रत्यक्ष होने के कारण नामधेय चोदक से बलवान् होता है। अधिक आगम वचन से होता है, नामधेय से नहीं। ज्योतिष्टोम में ज्योति आदि का अभाव होता है।

लिङ्गः संघातधर्मः स्यात्तदर्थपत्तेऽद्वयवत् ॥१६॥

पूर्व०—लिङ्ग संघात का धर्म होता है और द्वादशाह संघात है। अर्थापत्ति से स्थानी द्वादशाह धर्मों को ग्रहण करता है जैसे ब्रीहि आदि द्रव्य से श्रूतधर्मं तत्कार्यपिन्न नीवारों में प्राप्त होते हैं।

न वार्यंधर्मत्वात् संघातस्य गुणत्वात् ॥१७॥

सि०—संघात के गोण होने से द्वादशोपसत्त्व अपूर्व—प्रधान का धर्म है, संघात का नहीं।

अर्थापत्तेऽद्वयेषु धर्मलाभः स्यात् ॥१८॥

'द्रव्यवत्' यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार प्रतिनिधिभूत द्रव्यों में अर्थापत्ति से स्थानीभूत द्रव्यों का भी लाभ हो जाएगा।

प्रवृत्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ॥१९॥

मुख्य प्रवृत्ति से नियत का लिङ्गदर्शन होता है, चोदक की प्राप्ति होने से नहीं।

विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ॥२०॥

अप्रकरण पठितों के प्रकृत्यर्थ होने से विशिष्ट का विहार-दर्शन होता है।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥इति सप्तमोऽध्यायः॥

अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्रथ विशेषलक्षणम् ॥१॥

यद सामान्य अतिदेशनिरूपण के पश्चात् विशेष अतिदेश के लक्षणों का वर्णन किया जाता है।

यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ॥२॥

जिस विध्यन्त का कुछ लिङ्ग शब्दगत या अर्थगत वैकृतिकर्म-विधि में अथवा तद्गुण वाक्य में दिखाई देता है, वह विध्यन्त के साथ अर्थ का संयोग होने से अभिधान की भाँति विध्यन्त होता है।

प्रवृत्तित्वादिष्टे: सोमे प्रवृत्तिः स्पात् ॥३॥

पूर्वं—“ज्योतिष्टोमेन स्वर्गंकामो यजेत्”—यहाँ पर सोम के अङ्गभूत दीक्षणीय आदि में प्रवृत्तित्व होने से इष्ट की सोम में प्रवृत्ति होती है, दर्शपौर्णमास विध्यन्त प्रवृत्त होने से सोम में होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा, प्रगाणों के उपलब्ध होने से ऐटिक विध्यन्त होता है।

कृत्स्नविद्यानाद्वाऽपूर्वत्वम् ॥५॥

सिं—कृत्स्न विद्यान से सोम में अपूर्वत्व होता है। यह विहित इतिकर्तव्यता-बाला होता है, इसी से अपूर्व है।

सुगभिधारणाभावस्य च नित्यानुवादत् ॥६॥

सूक् के अभिधारण का अभाव नित्यानुवाद होता है, अतः सोम अपूर्व होता है।

विधिरित चेत् ॥७॥

दर्शपौर्णमास प्रकृति होने से प्राप्त सूक् के अभिधारण का प्रतिषेध करनेवाली विधि है, यदि ऐसा कहो तो—

न वाक्यशेषत्वात् ॥८॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्यशेष होने से यह सिद्ध होता है कि यह विधि नहीं है।

शंकते चानुपोषणात् ॥९॥

दर्शपौर्णमास में नियत उपोषण होता है, परन्तु यहाँ उपोषण न होने से शंका उत्पन्न होती है।

दर्शनमेष्टिकानां स्यात् ॥१०॥

प्रयाज और अनुयाज ऐष्टिकों का दर्शन लिङ्गत्व से प्रादिष्ट हो जाता है, अबः सोम का अपूर्वत्व होता है।

इष्टिपूर्णपौर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ॥११॥

इष्टियों में दर्शन तथा पूर्णमास के धर्मों की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि सभी इष्टियाँ विष्णुन्तापेक्ष हुआ करती हैं। यह सन्देह होता है कि यह दर्शनपौर्णमासिक विष्णुन्त है या सौमिक अथवा केवल दर्शनपौर्णमासिक ही है।

पश्चौ च लिङ्गदर्शनात् ॥१२॥

प्रमाण-वाक्यों के उपलब्ध होने से पशुयाग में दर्शनपौर्णमासिक विष्णुन्त ही होता है।

दैक्षस्य चेतरेषु ॥१३॥

अन्य सवनीय पशुयागों में दीक्षा के सम्बन्ध से दैक्ष अग्नीषोमीय याग के धर्म अप्त होते हैं।

ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ॥१४॥

ऐकादशिन पशुयाग में सौत्य का विष्णुन्त (सवनीय पशुयाग) के धर्मों का अतिदेश होता है, दो रक्षाना (रसी) रूप प्रमाणवाक्य के पाये जाने से।

तत्प्रवृत्तिर्णेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात् ॥१५॥

प्रतिपशु में यूप के दर्शन होने से ऐकादशिन धर्म की प्रवृत्ति पशुयागों में भी हो जाएगी, अतः ऐकादशिनों का विष्णुन्त पशुयागों में ही होता है।

अव्यक्तासु तु सोमस्य ॥१६॥

जहाँ देवता वाचक पद का विधान नहीं होता वहाँ सोम का विष्णुन्त (सोम के धर्म का अतिदेश) होता है।

गणेषु द्वादशस्य ॥१७॥

अहर्गणों में द्वादशाह याग के धर्मों का अतिदेश होता है।

गद्यस्य च तदादिषु ॥१८॥

संवत्सर यत्रों में गद्यामयन के धर्मों का अतिदेश होता है।

निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ॥१९॥

निकाय (निकाय नाम है उन धर्मों का जो संचातरूप से एक नियत क्रम में आते हैं) यज्ञों में पहले यज्ञ के धर्मों का पिछले यागों में अतिदेश होता है।

कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्कलनियमकत्तुसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ॥२०॥

सोर्य-यागरूपी कर्म की प्रवृत्ति न होने के कारण तथा फल, नियम, कर्ता तथा सपुत्राय आदि का उससे सावधान होने के कारण कलादि की अप्रवृत्ति है, उनका अतिदेश नहीं होता। कर्म विष्णुन्त-प्रवृत्त नहीं होता, विष्णुन्त से धर्म प्रवृत्त होते हैं।

प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ॥२१॥

कर्म का उपकार करने के लिए ही धर्मों की प्रवृत्ति हुआ करती है। फल पुरुष का

उपकार करता है, कर्म का नहीं। फल को पुरुषार्थ कहा भी गया है। इसी प्रकार नियमादि भी कर्म के धर्म नहीं होते।

आश्रुतित्वाच्च ॥२२॥

प्रधान का आतिदेवा कथन करने के लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं है।

गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

गोदोहन आदिरूप गुणों की प्रणयनाश्रित होने से प्रवृत्ति होती है।

निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ॥२४॥

कर्म का भेद होने से गोदोहन आदि की निवृत्ति हो जाती है।

अपि वाऽत्तद्विकारत्वात्कर्त्तव्यर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२५॥

ऐसे स्थलों में तद्विकारत्व न होने से प्रवृत्ति भी हो जाया करती है, जैसे खदिर अनु के लिए ही विकार है, अतः यह चर्तव्य ही होता है।

एककर्मजि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ॥२६॥

एक विधिविहित होने से सौर्ययाग एक अविभक्त कर्म है। एक कर्म में समुच्चम सम्भव नहीं किन्तु विकल्प होता है।

लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ॥२७॥

पूर्व ०—उभयत्र ओषधिद्रव्यरूपलिङ्ग साधारण होने से विकल्प होता है।

एकार्याद्वा नियम्येत पूर्वबृत्वाद्विकारो हि ॥२८॥

सिं—आग्नेय और सौर्य—दोनों एक देवतत्व के लिङ्ग होने से नियम्य हो जाता है कि आग्नेय है, पूर्वबृत्व होने से विकार है। सौर्य पूर्वबान् है। सभी विहृतियाँ पूर्ववती होती हैं।

आश्रुतित्वान्तेति चेत् ॥२९॥

एकत्व शूद्यमाण नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यालिङ्गाभावात् ॥३०॥

उक्त कथन ठीक नहीं, वयोंकि वाक्यशेष में एकत्व के लिङ्ग होने से यहीं पर एकत्व की व्यवस्था है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

इसी प्रकार अनुवाक में भी एकत्व का व्यवण होता है।

विप्रतिपत्तौ हृविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपास्यत्वात् ॥३२॥

देवता-सामान्य और हृविषा-सामान्य—इन दोनों में कोन विशेष बलवान् है, ऐसी शंका होने पर हृवि से विध्यन्त की नियम्य करना चाहिए, वयोंकि देवता हृवि की अपेक्षा बहिरङ्ग है और कर्म अन्तरङ्ग है।

तेन च कर्मसंयोगात् ॥३३॥

और, उस हृवि से कर्म का संयोग होता है, अतः हृवि प्रधान शब्द है।

गुणत्वेन देवताश्रुतिः ॥३४॥

याम में देवता का अवण गुणभूत होता है। देवता तो आहुतियाँ देते नहीं। द्रव्य की आहुतियाँ दी जाती हैं, अतः हृवि सामान्य ही बलवान् होता है।

हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् ॥३५॥

पूर्व०—कुण्डल (सोने के छोड़े-छोटे टुकड़े जिनको आहुति दी जाती है) चरु में प्राज्य धर्मों का अतिदेश है, क्योंकि स्वर्ण और ग्राज्य में तेजस्त्वारूप समान धर्म पाया जाता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥३६॥

तथा, हिरण्य—सुवर्ण में आज्य के और भी बहुत-से धर्म पाये जाते हैं।

ओषधं वा विशदत्वात् ॥३७॥

ओषध का हिरण्य में विध्यन्त होता है, क्योंकि दोनों में विशदत्व = कठिनत्वादि धर्म विद्यमान रहते हैं।

चरक्षब्दाच्च ॥३८॥

और, चरु शब्द ओषध का प्रापक है, अतः ओषध का लिङ्ग बलवान् है।

तर्स्मद्वच श्रपणश्चतुर्थः ॥३९॥

तथा, उस आज्य में दर्शपौर्णमासिक धवण सुना जाता है, अतः हिरण्य में ओषधि के धर्मों का अतिदेश है।

मधूदेव द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात् ॥४०॥

मधु और उदक = जल में दूष के धर्मों का अतिदेश है, क्योंकि दोनों में द्रवत्व की समानता है।

आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥४१॥

सिं—वर्ण की समानता होने से मधु और उदक में आज्य = घृत के धर्मों का अतिदेश होता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥४२॥

ओर मधु तथा उदक के बहुत-से उत्पवन (शोधन) आदि आज्य के धर्म नहीं होते। पय के दोहन आदि धर्म मधु और उदक में नहीं पाये जाते।

पूर्वस्थ चारिशिष्टत्वात् ॥४३॥

पहले जो द्रवत्व सामान्य बताया गया है, वह अवशिष्ट होता है। आज्य के धर्म करने से उसमें द्रवत्व आता है, अतः मधु और उदक में आज्य के धर्मों का अतिदेश है, पय के धर्मों का नहीं।

॥ इति गूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

वाजिने सोमपूर्वत्वं सोत्रामण्यां ग्रहेषु तच्छब्द्यात् ॥१॥

पूर्व०—वाजिन् और सोत्रामणी याग में ग्रह नामक पात्र में सोम के धर्मों का अतिदेश है, सोम शब्द के शूयमाण होने से।

ग्रनुवषट्काराच्च ॥२॥

ग्रनुवषट्कार का प्रयोग भी सोम के धर्मों को दिखलाता है।

समुपहृष्ट भक्षणाच्च ॥३॥

समुपहृत करके सोम का भक्षण करना सोम का धर्म है, उसी प्रकार के भक्षण का निर्देश यहाँ भी है ।

ऋणश्वपणपुरोडाश्याभयहणासादनवासोपनहनच्च तदत् ॥४॥

तथा, ऋण, श्रपण, पुरोडाश, उपयाम, प्रहण, आसादन, वासोप और नहन—ये सभी धर्म सुरा के समान सोम में भी होते हैं, अतः आजिन और सौत्रामणी में सोम धर्मों का अतिदेश है ।

हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥५॥

स्ति०—वाजिन् और सौत्रामणी यज्ञ दर्शपौर्णमासिक याग के विकार होने से उनमें दर्शपौर्णमासिक विद्यन्त होता है ।

प्रशंसा सोमशब्दः ॥६॥

यहाँ सोम शब्द प्रशंसा के अर्थवाला है, विद्यर्थ्यवाचक नहीं, क्योंकि विद्यायक का प्रभाव है ।

बचनानीतराणि ॥७॥

प्राप्ति का अभाव होने से अन्य बचन बाचनिकरूप में विद्यीयमान हैं ।

व्यपदेशाच्च तदत् ॥८॥

और, जो व्यपदेश होता है, वह भी उसी के समान हुआ करता है ।

पुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ॥९॥

पशुओं के पुरोडाश का निषेच है, क्योंकि ऐटिक धर्म का अतिदेश में लिङ्ग है ।

पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्वेतासामान्यात् ॥१०॥

पूर्व०—पशुयाग पुरोडाश के धर्मवाला है, क्योंकि दोनों का देवता समान है ।

प्रोक्षणाच्च ॥११॥

और, पुरोडाश की भाँति पशु का भी प्रोक्षण होता है, इस हेतु से भी सिद्ध है कि पुरोडाश के धर्मों का पशुयाग में अतिदेश है ।

पर्यन्तिकरणाच्च ॥१२॥

पर्यन्तिकरण भी पुरोडाश का एक धर्म है, और वह पशुयाग में भी देखा जाता है, अतः पशुयाग पुरोडाश का विकार सिद्ध होता है ।

साननाय्य वा तत्प्रभवत्वात् ॥१३॥

स्ति०—अभीषोमीय पशुयाग में साननाय्य के धर्मों का अतिदेश होता है, पुरोडाश के धर्मों का नहीं ।

तस्य च पात्रदर्शनात् ॥१४॥

साननाय्य हविष में जैसे पात्र की आवश्यकता होती है, वैसे ही पशु के खाने आदि के लिए पात्र की आवश्यकता होती है, अतः साननाय्य धर्म पशुयाग में कर्तव्य हैं, पुरोडाश में नहीं ।

धनः स्यान्मूर्तिसामान्यात् ॥१५॥

पूर्व०—धनत्वं सामान्यं धर्म के कारण सामान्यं धर्मवाले पशुयाग में दधि के धर्मों का अतिदेश है।

पशो वा कालसामान्यात् ॥१६॥

सिं—पशु और पयः—दोनों में सद्यः कालतारूप धर्म समान है। इस काल की समानता से पयः ही पशु को विकृत करता है, दधि नहीं।

पशवानन्तर्यात् ॥१७॥

तथा, पशु से पयः का आनन्तर्यं भी होता है। पयः दधि से अन्तरज्ज है।

द्रवत्वं चाधिषिष्ठम् ॥१८॥

पशु और पयः दोनों में द्रवत्वरूप धर्म समान है।

आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ॥१९॥

पूर्व०—आमिक्षा दूध और दही दोनों के मिलाने से बनती है, अतः उसमें दूध और दही दोनों के धर्म कर्तव्य हैं।

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥२०॥

सिं—दोनों में से एक के धर्म का अतिदेश सामना योग्य है, एक विवि-विहृत होने से।

दधिसंघातसामान्यात् ॥२१॥

पूर्व०—दधि के धर्मों का अतिदेश करना चाहिए, क्योंकि दधि और आमिक्षा दोनों में घनत्व समान रूप से पाया जाता है।

पशो वा तत्रधानत्वाल्लोकवद्धनस्तदव्यत्वात् ॥२२॥

सिं—आमिक्षा याय में पशुयाग के धर्मों का अतिदेश होगा, क्योंकि आमिक्षा में दूध की प्रवानता है, न कि दही की। लोकव्यवहार में भी थोड़ा-सा दही जो खाने के काम में नहीं प्राप्ता, वह दही बनाने के लिए पर्याप्त होता है।

धर्मनुप्राहाच्च ॥२३॥

और सद्यः कालतारूप धर्मनुकूल होने से भी पशोधर्म का आमिक्षा में अतिदेश है।

सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयव्याप्रवृत्तिरंकमर्यात् ॥२४॥

पूर्व०—द्वादशाह—सत्र और अहीन दोनों संज्ञायों वाला है। उस (द्वादशाह) की दोनों प्रकार की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि एककर्म्यता दोनों में होती है।

प्रथि वा यजति श्रुतेरहीनमूर्तप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥२५॥

सिं—जहाँ 'यजति' पद का प्रयोग होता है, वे 'अहीन' होते हैं, और उनमें अहीनों धर्म का अतिदेश होगा। द्वादशाहरूप प्रकृति के साथ भी समान शब्द ही होता है।

द्विरात्रादीनामैकादशारात्रावहीनत्वं यजति चोदनात् ॥२६॥

द्विरात्र आदि याग एकादशरात्र से अहीन होते हैं। वहाँ पर अहीनमूर्त की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनकी प्रेरणा 'यजति' शब्द से की जाती है।

त्रयोदशरात्रादिषु सत्रमृतस्तेष्वासनोपायि चोदनात् ॥२७॥

त्रयोदशरात्र आदि सत्र हैं, क्योंकि उनमें 'आसन', 'अपायि' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, अतः इनमें सत्र के धर्मों का अतिवेश होता है।

लिङ्गाच्च ॥२८॥

त्रयोदशरात्र आदि सत्र हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

अन्यतरतोऽतिरात्रवात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं कुण्डपायिनामयनस्य च

तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् ॥२९॥

पूर्व०—पञ्चदशरात्र और कुण्डपायिनामयन—ये दोनों अहीन हैं, अतः इनमें अहीनों के धर्मों का अतिवेश है। अन्यतर से अतिरात्र गृहों में अहीनत्व शूद्रमाण होता है।

अहीनत्वचनाच्च ॥३०॥

'अहीन' वचन के पाथे जाने से भी पञ्चदशरात्र आदि अहीन ही हैं।

सत्रे वोपायिचोदनात् ॥३१॥

सिं—'अपायि' शब्द का विवान उपलब्ध होते से पञ्चदशरात्र आदि सत्र हैं, अहीन नहीं।

सत्रलिङ्गं च दर्शयति ॥३२॥

तथा, लिङ्ग—प्रमाण भी यही सिद्ध करते हैं कि पञ्चदशरात्रादि सत्र हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य हितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

हृविर्गेष परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ॥१॥

पूर्व०—हृविर्गेष में उत्तर अभ्यनीयमीय का पर-शुचि देवता विकार होता है। देश की समानता होने से पूर्व-पूर्व का विकार होता है।

देवताया नियम्येत शब्दवत्वादितरस्याधुतिवात् ॥२॥

सिं—देवता से नियम होता है, क्योंकि देवता में शब्दत्व है। देश=ऋग से नियम नहीं है, क्योंकि ऋग शूद्रमाण नहीं है। देवताओं का आदर और ऋग की अवहेलना करनी चाहिए।

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत् ॥३॥

पूर्व०—गणचोदना=विवान में जिसका लिङ्ग होता है, उसी की आवृत्ति चोदना सामान्य होने से आग्नेय की भाँति होती है। आग्नेय का जैसे विव्यन्ताभ्यास होता है, वैसे ही यहाँ भी हुआ करता है।

नानाहानि वा संघातत्वात् प्रवृत्तिलिङ्गे त चोदनात् ॥४॥

सिं—यहाँ का गुण संघात होता है, उस गुण से भिन्न-भिन्न अहीनों का जा धर्म है, वह अतिदृष्ट किया जाता है। सप्तरात्र में चोदना से प्रवृत्त द्वादशाहिक चार हैं, उन्हें अनूदित करके त्रिवृत् किया जा सकता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥

'उदि प्रिवृत् ग्रन्थास होता है तो सभी अग्निष्टोम हो जाएँगे'—ऐसा मानने पर अन्य धर्म की उपलब्धि होती है।

कालाम्यासेऽपि वादरिः कर्मभेदात् ॥६॥

पूर्वं—कहीं-कहीं कर्मविशेष में काल का ग्रन्थास शूयमाण होता है, वहाँ द्वादशाहिकों की ही कर्मभेद से प्रवृत्ति होती है, यह आचार्य बादरायण का मत है।

तदावृत्ति तु जन्मिनिरह्यामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥७॥

सिं—आचार्य जैसिनि घटह की आवृत्ति मानते हैं, क्योंकि चौबीस दिनों की संख्या अप्रत्यक्ष है।

संख्यागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणप्रह्णात् ॥८॥

पूर्वं—ज्योतिष्टोम की संख्याओं में ज्योतिष्टोम का ग्रन्थास प्रतीत होता है, कृत नामक ज्योतिष्टोम का ग्रहण होने से।

अधिकारादा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्मिस्तत्वात् ॥९॥

सिं—विधान के द्वारा अधिकृत होने से प्रहृति तद्विशिष्ट (द्वादशाहिक संख्या विशिष्ट) होती है। अग्निष्टोम आदि अभिधान संख्या-निमित्त हैं, ज्योतिष्टोम के अभिधायक नहीं।

गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ॥१०॥

पूर्वं—द्वादशाहृ गण होने से उपचय (मन्त्र बढ़ाना) धर्म की प्राप्ति होती है, क्योंकि शतोक्त्य की प्रकृति द्वादशाहृ के समान है।

एकाहादा तेषां समत्वात्त्वात् ॥११॥

सिं—शतोक्त्य और द्वादशाहृ—दोनों में समानता होने से एकाह ज्योतिष्टोम से उपचय होता है।

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेवः प्रवृत्यविकारात्संख्यात्वादनिष्टोम-

वदस्यतिरेकात्तदस्यत्वम् ॥१२॥

पूर्वं—गायत्रियों में त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि प्रवृत्तियों का अवच्छेद (अक्षर-लोप) होता है, प्रकृति का अविकार होने से। गायत्री में घोबीस अक्षर की संख्या होती है,, इस संख्या का कभी व्यभिचार नहीं होता (गायत्री में सदा चौबीस ही अक्षर होते हैं)। अस्तिरेक के कारण, अग्निष्टोम की भाँति गायत्री का आस्तत्व होता है।

तन्मित्यत्त्वं पृथक्सतोषु तद्वचनात् ॥१३॥

और, गायत्री की श्वेतासा से भिन्न संख्यावाची त्रिष्टुप्, जगती आदि में नित्य संख्यावाचक गायत्री वचन है।

न विवातो दशेति चेत् ॥१४॥

बीस संख्या में दस संख्या नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

एकसंख्यमेव स्यात् ॥१५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो एक संख्या में ही सब का समावेश हो जाएगा।

गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्पावसंविषयत्वात् ॥१६॥

सिं—गुण होने से गायत्री शब्द चौबीस भ्राह्मणुक्त द्रव्य—अच्चा का वाचक है। यह संख्या नहीं है, सर्वविषयक न होने से ।

गोत्रवच्च समन्वयः ॥१७॥

‘चो’ शब्द गमन करने (जाने) वाले सभी सामान्य द्रव्यों का वाचक हो सकता है, परन्तु उसका सामान्य गलकम्बलवाली गी में ही होता है, इसी प्रकार गायत्री भी अन्वचन में ही संघर होती है ।

संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ॥१८॥

ग्रोर, चौबीस संख्यावाचक ‘चतुर्विश’ शब्द है, उक्त संख्या शब्दवाली है ।

इतरस्याभ्युत्त्वाच्च ॥१९॥

इतर जो अग्नेदादि की अच्चाएँ हैं, उनकी श्रुति न होने से भी गायत्री शब्द ग्रंथवान् है; यहाँ संख्या का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः गायत्री अच्चाओं का ही ग्राम करना चाहिए ।

द्रव्यान्तरेनिवेशाद्वाप्यलोपेविशिष्टं स्पात् ॥२०॥

अग्निष्टोग शब्द का किसी भी द्रव्यान्तर में निःहन होने से, यह केवल अग्निष्टोमान्तरा को बतलाता है। उक्तलोप के द्वादशाहिकों की अग्निष्टोमान्तरा नहीं होती, अतः उक्तलोप अवश्य होना चाहिए ।

अशास्त्र लक्षणत्वाच्च ॥२१॥

गायत्री शास्त्रलक्षणा है और ‘शताग्निष्टोग’ में सकृद्यस्तोत्र अशास्त्र लक्षणवाले हैं, अतः अशास्त्रलक्षणत्व होने से वे गायत्री का बाध गहीं कर सकते ।

उत्पत्तिनामधेयत्वात् भवत्या पृथक्सर्तीयु स्पात् ॥२२॥

अच्चा का नाम गायत्री है और यह स्वभावसिद्ध है, अतः जगती प्रादि में गायत्री शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से ही होता है ।

वचनमिति चेत् ॥२३॥

जहाँ विधि है, वहाँ शब्दार्थ से व्यवहार होता है, अतः यहाँ पर संख्या में गायत्री है, यदि ऐसा कहो तो—

याव् लक्ष्म् ॥२४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह एक ही स्थान में संख्या ग्रंथवाला है, ग्रन्थ नहीं। लक्षणा से कहना भी उचित नहीं ।

अपूर्वं च विकल्पः स्पात्विं संख्याविधानम् ॥२५॥

यदि संख्या में गायत्री शब्द का विधान माना जाए तो प्रकृतिभूत दशपौर्णमास में गायत्री का विकल्प मानना पड़ेगा, अतः संख्या विधान उचित नहीं ।

अग्न्युष्ट्वान्तेति चेत् ॥२६॥

अग्न्युष्ट्वा होने से प्रकृति में विकल्प होता है, यदि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अग्न्युष्ट्वा उपसंगृहीत होता है ।

तथा पूर्ववति स्यात् ॥२७॥

जैसे प्रपूर्व में होता है, वैसे ही पूर्ववान् प्रकृतिभूत 'बृहस्पति' भी सबमें हो जाएगा ।
गुणवेशशब्द सर्वत्र ॥२८॥

और, गुण चौबीस संस्था का तो सर्वत्र आवेश होता है । (सूत्र में 'च' का प्रयोग 'तु' के स्थान पर होने से संस्थाभिधान गायत्री शब्द में प्रकृति गायत्रियों का आगम प्राप्त नहीं होता ।

निष्ठान्तप्राणन्तेति चेत् ॥२९॥

गायत्री शब्द रूढिरूप में ग्रहण होता है, यदि ऐसा कहो तो—
तथेहापि स्यात् ॥३०॥

उस प्रमाण से यहाँ भी हो जाता है ।

यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छब्देष्वपि प्रसिद्धः स्यात् ॥३१॥

यदि असंशय में भी प्रकृत्युपबन्धन (भृतिदेश-शास्त्र के घनुग्रह) से ग्रागायत्री में गायत्री शब्द की कल्पना करनी पड़े तो कुशों में शर शब्द की कल्पना करनी चाहिए ।

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३२॥

चौबीस अक्षरगत संस्था में गायत्री शब्द का प्रयोग देखा गया है, उससे कल्पना की जा सकती है, यदि ऐसा कहो तो—

तथा शरेष्वपि ॥३३॥

उसी प्रकार 'शर' शब्द का प्रयोग भी कुशाश्रों में देखा जाता है ।

भरत्येति चेत् ॥३४॥

'शर' शब्द का प्रयोग सक्षणावृति से होता है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥३५॥

उसी प्रकार से इतर में भी ऐसा ही होता है, अर्थात् गोणवृति से प्रयुक्त गायत्री शब्द स्वार्थ में वर्तमान रहते हुए तत्सदृश का गमन करता है । इससे यह सिद्ध है कि संस्था में गायत्री शब्द नहीं आता, ग्रहा में ही आता है ।

अर्थस्य चासमान्तरवान्त तासामेकवेदे स्यात् ॥३६॥

प्रिष्टप् और जगती पादि के एक देश में अर्थ की समाप्ति न होने से, उनके एक ऐसा में गायत्री शब्द का प्रयोग नहीं होता ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ॥१॥

सिं—'दर्विहोम' यज्ञ का नाम है, होम के संयोग से ।

स लौकिकानां स्यात् कर्त्तुस्तवाल्पत्वात् ॥२॥

पूर्व—'दर्विहोम' लौकिक कर्मों का नामधेय होता है, क्योंकि लौकिक कर्मों में उपर्युक्त कर्ता का स्मरण होता है ।

सर्वेषां या दर्शनाद्वास्तुहोमे ॥३॥

सिं—‘दर्विहोम’ लोकिक और वैदिक—दोनों प्रकार के कर्मों का नाम होता है। ‘ग्रष्टक’ लोकिक होम है और ‘चास्तुहोम’ वैदिक।

जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ॥४॥

होम शब्द का संयोग होने से ‘दर्विहोम’ नाम होकर का नहीं। याथ के लिए ‘यजति’ शब्द भारती है। होम वह है जिसमें अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं, यह ग्रथं है ‘जुहोति’ शब्द का।

द्रव्योपदेशाद्वा गुणभिधानं स्पात् ॥५॥

पूर्व—‘दर्वि से होम’—इसमें द्रव्य का उपर्देश होने से यहाँ गुणविधि है, इसे कर्माभिधान कहना उचित नहीं।

त लौकिकानामाचारपृष्ठत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ॥६॥

सिं—लौकिकों के आचार से गृहीत दर्वि होती है और जो श्रोतकर्म होते हैं, उनके भी ग्रन्थ होगायं पाश कहे गये हैं, क्योंकि वहाँ श्रुता प्रादि का विधान होता है, अतः दर्विहोम को गुणविधि कहना उचित नहीं।

दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥७॥

‘दर्विहोम’ में ग्रन्थ पात्रों का दर्शन होने से भी यह गुणविधि नहीं है।

तथाग्निहृविधोः ॥८॥

जिस प्रकार पात्र कार्यों में दर्वि पूज्यमान नहीं है, वैसे ही अग्नि-हृवि के कार्य में भी ‘दर्वि’ का निवेश नहीं होता।

उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः ॥९॥

अग्नि के कर्म में दर्वि का उपर्देश नहीं होता, क्योंकि ग्रन्थ द्रव्य अग्नि के दहन, पचन, प्रकाशन आदि कार्य करने में असमर्थ होता है, अतः गुणविधि नहीं है।

तस्मिन्स्तोऽप्रवर्त्तेऽव्यक्तत्वात् ॥१०॥

पूर्व—दर्विहोम में सौमिक विघ्नन्त (सोम के धर्मों की प्रवृत्ति) है, अव्यक्तत्व-रूप समानता होने से। (सोम अव्यक्त चोदनावाला है, यह भी उसी प्रकार का है।)

न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रे तेन विप्रतिबेधात् ॥११॥

सिं—दर्विहोम में सौमिक विघ्नन्त कहना उचित नहीं, क्योंकि दर्विहोम स्वाहाकार से संयुक्त होते हैं और तन्त्र में सौमिक में वषट्कार का निर्देश होने से विप्रतिबेध हो जाता है। दर्विहोमों को अपूर्व मान लेने से यह विरोध नहीं होता।

शब्दान्तरत्वात् ॥१२॥

भिन्न-भिन्न शब्दों के होने से भी दर्विहोम में सौमिक धर्मों की प्राप्ति असुविधा है। सोम ‘यजति’ चोदनावाला होता है और दर्विहोम ‘जुहोति’ चोदनावाले हैं।

लिङ्गदर्शनात्त्वं ॥१३॥

ओदुम्बरी होम में स्वाहाकार के लिङ्ग के देखे जाने से भी यहाँ सौमिक विघ्नन्त नहीं होता, यदि सौमिक विघ्नन्त होता तो वषट्कार होना चाहिए था।

उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्ग-
दर्शनात्पशुवत् ॥१४॥

आक्षेप—स्वाहाकार-विधि उत्तरार्थ (विकृति के लिए) होती है। जैसे साप्तदश्य-
वाचक मित्रविन्दादि विकृति में सन्निविष्ट होते हैं, वैसे ही सौमिक धर्म की प्रवृत्ति का
प्रतिवेष नहीं होता तथा लिङ्गभूत वाक्य के दर्शन से पशुदेवक याग में पुनः प्रवृत्ति
होती है।

प्रनुत्तरार्थो वाऽर्थवस्त्वादानर्थक्षाद्वि प्राप्यम्पस्योपरोयः स्यात् ॥१५॥

समान—स्वाहाकार विधि अनर्थक होने से प्रकृतिभिन्न के लिए नहीं है। प्रनर्थक
होने से प्राकृत का उपरोक्त अर्थात् वषट्कार का बाध हो जाता है।

न प्रकृतावपीति चेत् ॥१६॥

आक्षेप—प्रकृतिभूत नारिष्ट होगादि में स्वाहाकार का सन्निवेश नहीं है, यदि
ऐसा कहो हो—

उत्तरं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥१७॥

समान—उत्तर कथन ठीक नहीं क्योंकि पहले (३.३.१४) कहा जा चुका है कि
अहाँ-जहाँ श्रुत्यादि का समावाय होता है, वहाँ 'एर' का दौरबल्य होता है।

तच्छेदना वेदे: प्रवृत्तित्वाद्विधिः स्यात् ॥१८॥

पक्षान्तर का उत्थापक सूत्र—दर्विहोम की चोदना समस्त दर्शपौर्णमास इष्टियों
में प्रवृत्त होने से ग्रनिहोत्रादि में नारिष्टहोम प्रवर्तक विधि प्राप्त हो जाती है जो जिसका
धर्म देखा यथा है, उसकी अदृश्यता होने पर उसका अनुमान कर लिया जाता है।

शब्दसामर्थ्याच्च ॥१९॥

चोदना—विधि की समानता होने से धर्मकी प्राप्ति होती है, इसमें शब्द-सामर्थ्य
ही हेतु होता है।

लिङ्गदर्शनात्त्वम् ॥२०॥

और, प्रमाण पाये जाने से भी उनकी प्रवृत्ति होती है।

तत्राभावस्य हेतुत्वादगुणार्थे स्याददर्शनम् ॥२१॥

उत्थापित पक्षान्तर का खण्डन—अग्नवक्तों के अप्रतिष्ठत्व के उपपादन के लिए
इष्टादि के अभाव को हेतुत्व कहा जाता है। इस अभाव के हेतु होने से हविहोम में नारिष्ट
होगी की प्रवृत्ति नहीं होती।

विविरिति चेत् ॥२२॥

यह इष्टादि का प्रतिषेध करनेवाली विधि है, यदि ऐसा कहो तो—

न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थेच समाधानं नानावेनोपपद्यते ॥२३॥

उत्तर कथन ठीक नहीं, क्योंकि इसकी विधि अन्य कही गई है, यहाँ उसका वाक्य-
कारण है। यदि इन्हें विधियाँ कल्पित किया जाए, तो किर पृथक् वाक्य होंगे और व्यवहृत
कारण ही जाएंगी। अनुवादरूप होने से उनका विवायकत्व नहीं होता।

येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात् ॥२४॥

पूर्वं ०—जिन यामों की अपर अग्निर्धार्य में होम होता है, उनकी प्रवृत्ति हो जाएगी क्योंकि वही कोई विरोध नहीं होता ।

तत्रोषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येतन् ॥२५॥

स्ति०—दर्विहोम में श्रोषधि द्रव्य त्रीहि आदि विधीयमान हैं, अतः उपर्युक्त कथन ठीक नहीं । वे द्रव्य स्थान से गम्यमान होते हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति में कोई प्रयोजन नहीं होता ।

लिङ्गाद्य लेषहोमयोः ॥२६॥

पूर्वं ०—शेष होमों (पिण्डलेप और फलोकरण) में श्रोषधि सामान्य लिङ्ग से प्रवृत्त होता है ।

सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विष्णुत्पत्तिल्यवस्थानांदर्थस्यापरिणेयत्वाद्

बचनादतिदेशः स्यात् ॥२७॥

उपसंहार सूत्र—यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि ये दोनों होम प्रतिपत्तिकरण हैं और दर्विहोम प्रधान कर्म होते हैं । इनका बहुत अधिक मेद है । प्रतिपत्तित्व से निवापिण आदि घमों के ये दोनों अप्रयोजक होते हैं, अतः दर्विहोमों की घर्मप्राप्ति किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, परन्तु सर्वत्र अप्राप्ति का स्वभाव नहीं है, बचन से अतिदेश होता है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

नवमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

पत्रकर्मं प्रवानं तद्विचोदनाभूतं तस्य इव्येषु
संस्कारस्तत्प्रयुक्ततरवर्थत्वात् ॥१॥

दर्शपौर्णमास कर्मं प्रवान होते हैं, वर्णोंकि भ्रूवं होने से वे विधिमय हैं। उसके दर्शों और यजति में जो संस्कार है, वह अपूर्वं प्रयुक्त होता है। वे तदर्थं हैं, इसीलिए किये जाते हैं।

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थात्तत्प्रयुक्तं त्वात् ॥२॥

पूर्व०—ग्रवहनन नामक संस्कार में युज्यमान प्रोक्षण आदि घर्मं तदर्थं (ग्रवहनन के लिए) होने से उसमें प्रयुक्त हो जाते हैं।

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्भर्मसम्बन्धस्तस्मात्तत्प्रयुक्तं
स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥

सिं०—ग्रवहननरूप कर्मं से अपूर्वं का सम्बन्ध है और यज्ञ के साथ उसका प्रोक्षण सम्बन्ध है, अतः संस्कार की तदर्थता होने से उसकी यज्ञप्रयुक्तता होती है।

फलदेवतयोदय ॥४॥

पूर्व०—जो मन्त्र फल और देवता का प्रकाश करनेवाले हैं, उन्हें भी अपूर्वं प्रयुक्तता प्राप्त होती है।

न चोदनातो हि सादृगुच्छयम् ॥५॥

सिं०—फल और देवता के स्वरूप को प्रकाशित करने में मन्त्रोच्चारण प्रयोजक नहीं है, वर्णोंकि फल और देवता के प्रकाश द्वारा अपूर्वं प्रयुक्त होता है।

देवता वा प्रयोजयेदतिथिद्भोजनस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

पूर्व०—समर्त देवता सम्पूर्ण घर्मों के प्रयोजक हो सकते हैं। देवता भोजनरूप याग देवता के लिए ही होता है, जैसे अतिथि के लिए लाया गया पदार्थ अतिथि के लिए होता है।

पार्यपत्याच्च ॥७॥

और, देवताओं के भ्रष्टपति होने से भी यही सिद्ध होता है।

ततद्वच तेन सम्बन्धः ॥८॥

इससे देवता का फल के साथ सम्बन्ध होता है। देवता यज्ञ करनेवाले को फल प्रदान करते हैं। इसी तथ्य को स्मृति और आचार से भी दृढ़ किया जाता है।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यकर्मप्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ॥६॥

सिं—देवता के लिए फल का प्रयोजन मानना उचित नहीं है। यजकमें ही प्रधान होता है। इसमें शब्दपूर्वत्व हेतु होता है। वही प्रयोजक हुआ करता है। देवता की धूति गौणरूप से होती है। जो स्मृति, आचार और अन्यार्थ दर्शनों द्वारा देवता का धोजन करना कहा है, देवता के विचरहरहित होने से उसका भी प्रतिवाद हो जाता है।

ग्रतिथौ तत्प्रधानत्वभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रोत्प्रधानत्वात् ॥१०॥

ग्रातिथ्य में ग्रातिथि की प्रीति का विधान होता है। जैसे ग्रातिथि प्रसन्न हो वही किया जाना चाहिए किन्तु इस कर्म में प्रीति-विधान का आभाव है, अतः ग्रातिथिवत् कहना उचित नहीं है।

द्रव्यसंख्याहेतुसमुदाय वा श्रुतिसंघोषात् ॥११॥

पूर्वं—श्रीहि शादि द्रव्य-, परिषिखत वित्तादि संख्या, होम में शूर्णगत धन हेतुत्व, चतुर्हेंशाभिसर्वन में पौर्णमासी यागवत् समुदायत्व—ये चारों प्रोक्षण शादि के संयोजक हैं, द्वितीय शादि श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से ।

सर्वकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

और, जाति के धर्म को अपूर्वप्रयुक्त धन लेने पर द्रव्य के साथ धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः द्रव्यादि प्रयुक्त ही प्रोक्षण शादि होते हैं।

अर्थोऽवा स्थातप्रयोजनमितरेषाद्योदनात्तस्य च गुणमूलत्वात् ॥१३॥

सिं—इतर द्रव्यादि की कर्तव्यता चोदना=विधि न होने से अर्थ ही इनका प्रयोजक होता है। अपूर्व के प्रति इनका गुणभूतत्व होने से श्रवण होता है।

अपूर्वत्वाद्व्यवस्था स्यात् ॥१४॥

'ऐन्द्रवायव'—गह अपूर्व है। इससे व्यवस्था होती है।

तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ॥१५॥

द्रव्यादि प्रयुक्त प्रोक्षण शादि धर्मों के स्वीकार करने से धर्म की सर्वविषयता हो जाती है।

तद्युक्तस्येति चेत् ॥१६॥

सर्वविषयता प्रकरणयुक्त धर्म की ही होगी, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतित्वात् ॥१७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरणयुक्त वीहियों का निवेदन कहीं भी श्रूयमाण नहीं होता और वाक्य से बाधित प्रकरण धर्म का नियम करने में समर्थ नहीं होता।

अविकारादिति चेत् ॥१८॥

प्रकरण न होने पर भी अध्यर्थु अविकार से ज्ञान प्राप्त कर लेता कि ये श्रीहि भक्तार्थ हैं, या कार्यार्थ । वही पर जो कार्यार्थ होंगे, उनका ही प्रोक्षण करेगा, यदि ऐसा कहो तो—

तुल्येषु नाविकारः स्याद्योदितश्च सम्बन्धः पृथक् सतां

यशायेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्यप्रयोजनम् ॥१६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सभी श्रीहि तुल्य ही होते हैं और तुल्य में अविकार

सम्बन्ध नहीं है। उनका कोई पृथक् नाम नहीं होता। जो भक्तार्थ हैं, वे ही कार्यार्थ भी होते हैं। पृथक् होनेवालों का यज्ञार्थ से निरपीण श्रूयमाण होता है, प्रतः घर्म को सर्व-विषयत्व की प्राप्ति होती है। पूर्व हेतु से प्रोक्षण आदि का अपूर्व प्रयुक्तत्व होता है।

देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्यात् श्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ॥२०॥

ग्रन्थीषेमीय से पहले होनेवाले पदार्थों का उपांशुत्व (मौन गनुष्ठान) श्रुति से होता है और इस प्रकार ज्ञातीयक का पूर्वदेश में भाव होता है।

यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ॥२१॥

पूर्व०—यज्ञ का वाक्य के साथ सम्बन्ध होने से परमापूर्व प्रयुक्त उपांशुत्व होता है।

अनुवादच तदर्थवत् ॥२२॥

और, अनुवाद = अर्थवाद तदेश पदार्थ से ही हुआ करता है।

प्रणीतादि तत्त्वेति चेत् ॥२३॥

प्रणीता, प्रणयन आदि सम्बन्धीय वाङ्-नियम (वाणी संयम) परमापूर्व प्रयुक्त हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न यज्ञस्याश्रुतिः त् ॥२४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर यज्ञ की विवक्षा नहीं है।

तदेशानां वा संघातस्याचोदितत्वात् ॥२५॥

सिं०—पूर्वदेश-सम्बन्धीय पदार्थों में उपांशुत्व प्रयुक्त होता है। यह, यजि और परम्यास आदि संघात को उपांशुत्व का विधान नहीं होता।

अग्निधर्मः प्रतीष्टकं संघातात्मोर्ध्मासोचत् ॥२६॥

पूर्व०—कषण, प्रोक्षण आदि अग्नि के घर्म प्रति इष्टका में होने चाहिए, संघात का होना ही इसमें हेतु है। जैसे पौर्णमासी याग में होता है, वैसे ही यहीं भी होना चाहिए।

अग्नेवा स्याद् द्रव्यकर्त्वादितरासां तदर्थत्वात् ॥२७॥

सिं०—इष्टका में अलग घर्म होते हैं और अग्नि में अलग। अग्निरूप द्रव्य एक होने से इष्टका तदर्थं (अग्नि के लिए) होती है।

चोदनासमुदायात् पौर्णमास्यां तथात्वं स्यात् ॥२८॥

विघान समुदायपरक होने से पौर्णमासी याग में भी मानने योग्य है।

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥२९॥

पूर्व०—विशेष का अवण न पाये जाने से पत्नीसंयाजान्तत्व सभी ‘ग्रहन’ नामक यागों में हो सकता है।

लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ॥३०॥

सिं०—उत्तम याग से पूर्व सब यागों में पत्नीसंयाजान्तत्व होता है, प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ॥३१॥

प्राक्षेप—जैसे दीक्षा का उन्मोचन वचन नक्त संस्थापन का विष्यर्थवाद है, वैसे ही पह भी अर्थवाद है।

स्थाद्वजारम्य विषानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥३२॥

समा०—यन्त में लिङ्ग का विरोध होने से उत्तम से पहले पत्नीसंवाजान्तरा होती है।

अम्यास सामिधेनीर्ना प्राप्यस्यात्स्वानश्चर्मः स्थात् ॥३३॥

सामिधेनी अचाहो के प्राप्यम्य से जो अस्यास है, वह स्थान-घर्म होता है।

इष्ट्यावृतो प्रथाजवदवत्तताऽरम्भशीया ॥३४॥

पूर्व०—दशंपोर्णमास की भावृति में प्रथाज की भाँति आरम्भणीया इष्ट का आवर्तन होता है।

सङ्कुताऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥

सिं—आरम्भ के संयोग से एक दार ही आरम्भणीया इष्ट का अनुवर्तन करना चाहिए, फिर एक ही आरम्भ यावज्जीवन चलता है।

पर्याभिष्ठनसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्राचोदितमप्राप्तं

चोदिताभिष्ठानात् ॥३६॥

पर्याभिष्ठान=पर्याप्रकाशन के संयोग से मन्त्रों में शेषभाव=प्राप्तत्व होता है। मन्त्र से विधिविहित पर्याप्र का प्रकाश होता है, दशंपोर्णमास में विधिविहित होने से वह प्राप्त नहीं है।

ततश्चावचनं तेषाभितरार्थं प्रयुज्यते ॥३७॥

इसी कारण से उनका अवचन इतरों (निर्वाप की स्तुति) के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

गृणशब्दस्तयेति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—निर्वाप मन्त्र में भग्नि गुण शब्द है, वैसे ही असमवेत वचन है, यदि ऐसा कहो तो—

न समवायात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ समवाय होता है।

चोदिते तु परार्थत्वाद्विषिद्धिकारः स्थात् ॥४०॥

यदि चोदित भी समवेत है, तो वह परार्थ (स्तुति के लिए) ही किया जाता है, अपने संरक्षक के लिए नहीं। परार्थ होने से वह भविकार से प्रयुक्त किया जाता है।

विकारस्तत्रधाने स्थात् ॥४१॥

यजमान=प्रधान में विकार होता है।

असंयोगात्तदर्थेषु तदिष्ट्यत्प्रतीयेत ॥४२॥

विशेषण से विशिष्ट की प्रतीति होती है; सब्दों का उन अर्थों में संयोग नहीं होता।

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥

आक्षेप—कर्माभाव होने से 'हरिवत्' आदि का प्रयोग है, यदि ऐसा कहो तो—

न परार्थत्वात् ॥४४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'हरिवत्' आदि शब्द इन्द्र की स्तुति के लिए होने से परार्थ होते हैं।

तिक्ष्णविशेषनिर्देशात्समानविद्यानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात् ॥४५॥

सि०—पशु-सम्बन्धी धर्मविदियों में सरस्वती देवताक मेथी-द्रव्य याग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'मेथी' स्त्रीत्वात् है, परन्तु वहाँ पुलिङ्ग का निर्देश है।

पदविभिषणानाहा तद्वि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम् ॥४६॥

पूर्व०—पशु का प्रभिष्ठान होने से चोदनाभूत सर्वनाम शब्द को पुंविषयत्व होता है, फिर वह पशु के द्वारा कहा जाता है।

विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ॥४७॥

सि०—पुलिङ्ग शब्द का निर्देश होने से विशेष है।

पशुत्वं चक्षनिष्ठात् ॥४८॥

और, जो एकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है, वह पशु के अभिप्राप्यवाला ही है।

यथोक्तं वा सन्निष्ठानात् ॥४९॥

अथवा, सन्निष्ठान होने से जैसा कहा गया है, वह ठीक है।

आन्नातादन्यदधिकारे वचनाद्विकारः स्यात् ॥५०॥

जहाँ धधिकार में आन्नात से भ्रन्य आदेशभूत विकार होता है, वह विशेष के विधान होने से है।

द्वं वा तुल्यहेतुत्वात्समान्याद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥

पूर्व०—'इरा' और 'गिरा' दोनों प्रकार का पाठ होता है। दोनों का हेतु भी तुल्य होता है। सामान्य होने से विकल्प होता है।

उपदेशात्त्वं साम्नः ॥५२॥

साम के उपदेश होने से भी 'गिरा' पद उपदिष्ट हो जाता है, भ्रतः विकल्प ही होता है।

नियमो वा श्रुतिविशेषदितरत्साप्तदश्यवत् ॥५३॥

सि०—श्रुतिविशेष के द्वारा 'इरा' पद ही उपदिष्ट किया गया है, इसलिए नियम है और जो इतर 'गिरा' पद है वह साप्तदश्य की भाँति होता है।

अप्रवाणात्त्वदान्यन्ये तथाभूतोपदेशः स्यात् ॥५४॥

पूर्व०—'इरा' पद 'गिरा' शब्द से भिन्न होने से अप्रगीत शब्द से विहित 'इरा' पद है, भ्रतः जैसा विहित है वैसा ही पाठ करना चाहिए।

यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात् ॥५५॥

सि०—जिस स्थान पर जिस शब्द का आदेश हो, उसी का गान करना चाहिए, भिन्न पद की प्रधानता होने से।

गानसंयोगात्त्व ॥५६॥

और, गान के संयोग होने से भी 'इरा' पद होता है।

वचनमिति चेत् ॥५७॥

वचनों की उपलब्धि भी है, यदि ऐसा कहो तो—

न सत्प्रधानत्वात् ॥५८॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ 'इरा' पद की प्रवानता का निर्देश है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाल्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥१॥

पूर्व०—कुछ आचार्य मानते हैं कि साम-प्रगीत मन्त्रवाच्य है। इसमें दो हेतु हैं—
स्मृति और गुरु-शिष्य-परम्परा से होनेवाला उपदेश।

तदुक्तदेवम् ॥२॥

सिं०—यह पश दोषयुक्त है, यह बात सप्तम प्रधाय में कह दी गई है। साम
भीतिर्ण हैं, प्रगीत-मन्त्रवाच्य नहीं हैं।

कर्म वा विविलक्षणम् ॥३॥

पूर्व०—साम प्रधान कर्म है, द्वितीया विभक्ति का अवण होने से।

तदुक्तव्यं चक्रनात्पाकपत्त्वात् ॥४॥

पाकयज्ञ में जैसे लाजा प्रादि गुणद्रव्य गिनाए हैं, उसी प्रकार सामग्रान के योनिगूत
ऋचारूप द्रव्य भी गुणमूल हैं और सामग्रान प्रधान कर्म हैं।

तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यस्त्वरै व्यतिरेकः प्रदेशाच्च ॥५॥

क्तुविशेष में द्रव्यान्तर (दोनों ऋचाओं) में प्रदेश (प्रतिदेश शास्त्र) और
व्यतिरेक (अभाव) परस्पर विरोधी नहीं हैं, अतः साम प्रधान कर्म है।

शब्दार्थत्वात् नेत्रं स्पात् ॥६॥

सिं०—रथन्तर प्रादि गान ऋचाओं के लिए होने से गान प्रधान कर्म नहीं अपितु
बोण कर्म है।

परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥७॥

और, रथन्तर आदि शब्दों के स्तुतिपरक होने से भी साम गुणमूल हैं।

असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ॥८॥

स्तुति और गान शब्दों के पृथक् ग्रथं होने से कर्म से सम्बन्ध नहीं होता, अतः ऋक्
का साम गुणमूल है।

संस्काराच्च प्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात् ॥९॥

अग्नि की गर्ति प्रयुक्त होने से अप्रकरण ग्रथात् अध्ययनकाल में संस्कार होता
है। जैसे अम्याधान के समय अग्नि का संस्कार होता है, ज्योतिष्टोम के प्रयोग-समय नहीं,
ऐसे ही अध्ययनकाल में ऋचाओं का संस्कार होता है, गान के समय नहीं।

अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ॥१०॥

शब्दों के अकार्य (संस्कृत शब्दों का प्रयोग के समय पाठ न करना) होने से
अप्रयोग प्रतीत होता है। प्रगीत शब्द पुनः प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

आधितत्वाच्च ॥११॥

गान के कर्मकाल के आधित होने से प्रकर्मकाल में गान की कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

प्रयुज्यत इति चेत् ॥१२॥

प्रयोग के समय सामग्रान का प्रयोग किया जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

प्रह्लादं प्रतीयेत ॥१३॥

उबत कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह शिष्य के धारण एवं ग्रहण (अभ्यास) के लिए ही किया जाता है ।

तुच्चे स्पात् श्रुतिनिर्देशात् ॥१४॥

पूर्वं—तृच (तीन ऋचाओं के समूह) में सामग्रान होता है, क्योंकि श्रुति में ऐसा निर्देश पाया जाता है ।

शब्दार्थंत्वाद्विकारस्य ॥१५॥

तृच में व्यासज्जित (गिरा) करके साम का गान करना चाहिए, क्योंकि सामग्रान-रूप विकार शब्दार्थं होता है ।

गानेन्ति च ॥१६॥

और धर्मवाद से भी ऐसा ही सिद्ध होता है ।

वाचायानी तु विभवत्त्वात् तत्त्वाद्वं समाप्तिः स्पात्संस्कारस्य तदर्थंत्वात् ॥१७॥

सिं—वाक्यों के विभवत होने से प्रत्येक ऋचा में सामग्रान की समाप्ति होती है, क्योंकि संस्कार (प्रकाराभिव्यक्ति) ऋचा के लिए होता है ।

तथा चान्यार्थंदर्शनम् ॥१८॥

तथा, प्रत्येक ऋचा में राम की समाप्ति होने से दूसरे ग्रंथ की सिद्धि भी होती है ।

अनवानोपदेशाच्च तद्वत् ॥१९॥

और भी, यदि प्रयोग के समय में प्रति ऋचा की समाप्ति पर गान करना है तो स्वाध्याय के समय भी वैसा ही अभ्यास करना चाहिए, भरतः प्रत्येक ऋचा के साथ गान करना चाहिए ।

अभ्यासेनेतराः ॥२०॥

अभ्यास में भी तीनों ही ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिए ।

तद्वभ्यासः समाप्तः स्पात् ॥२१॥

पूर्वं—उस सामग्रान का अभ्यास समान छन्दों में ही करना चाहिए ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

समान छन्दों में ही सामग्रान करने के प्रमाण भी पाये जाते हैं ।

नैमित्तिक तृत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत ॥२३॥

सिं—नैमित्तिक उत्तरात्व तो आनन्दर्थं से प्रतीत होता है ।

ऐकार्याच्च तद्वभ्यासः ॥२४॥

और, तीनों ऋचाओं की एक ग्रंथ में संगति होने से उनके अभ्यास का विधान है ।

प्रागतिर्थं तु ॥२५॥

प्रागाधिक सामग्रान का भी विधान पाया जाता है ।

स्वे च ॥२६॥

और, घण्टे छन्द में ही गाना करना अभीष्ट होता है ।

प्रगाथे च ॥२७॥

जहाँ प्रकर्ष से गान होता है, वह प्रगाथ है, परतः प्रगाथ में साम का गान करना आवश्यक है ।

लिङ्गवर्णनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

और, प्रमाणों का अव्यतिरेक होने से भी सामग्रान करना आवश्यक है ।

अर्थक्तव्याद्विकल्पः स्यात् ॥२९॥

प्रयोजन के एक होने से विकल्प होता है ।

अर्थक्तव्याद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

पूर्व०—ऋक् और साम का तदर्थत्व (ऋक् और साम दोनों के स्तुत्यर्थ) होने से विकल्प होता है, क्योंकि दोनों का स्तुतिलृप एक ही प्रयोजन है ।

बचनाद्विनियोगः स्यात् ॥३१॥

सिं०—साम का विनियोजक बचन है, उक्त बचन से साम के द्वारा स्तवन ही होना चाहिए ।

समप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३२॥

पूर्व०—सामग्रान के प्रतिदेश में 'आई' (गान में जहाँ 'ए' हो वहाँ 'आई' कर देते हैं) भावादि विकार योन्यपेक्ष होता है, और ये शास्त्र के द्वारा कृत हैं ।

वर्णे तु बादरियंथा द्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥३३॥

सिं०—'आई' भाव उत्तरावर्णवश से करना चाहिए, योनिवश से नहीं—ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं । इसमें द्रव्यव्यतिरेक ही हेतु है ।

स्तोभस्यके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृगत् ॥३४॥

पूर्व०—कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि ऋक् की भाँति स्तोभ की ऋगन्तर में निवृत्ति होती है ।

सर्वतिरेगस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ॥३५॥

सिं०—स्तोभ सहित साम का अतिरेश है । सामान्य होने से लोकव्यवहार के समान अतिरेश है ।

प्रन्वयं चापि दशांयति ॥३६॥

और, प्रन्वय से भी इसी बात की सिद्धि होती है ।

निवृत्तिऽयंलोपात् ॥३७॥

आक्षेप—प्रथवा, ग्रन्थलोप होने से स्तोभ अक्षर की निवृत्ति होती है ।

प्रन्वयो चार्यवादः स्यात् ॥३८॥

समा०—और जो वाक्यसेष बचन है, वह प्रथवाद है ।

अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ॥४६॥

जो श्रद्ध के अक्षर से अधिक प्रीत विलक्षण वर्ण होता है, वह 'स्तोभ' अक्षर कहाता है, ऐसा माचार्य जैमिन मानते हैं।

धर्मस्थार्थकृतत्वाद् द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे

चोदनानुबन्धः समवायात् ॥४०॥

धर्म को धर्मकृतित्व (प्रोक्षण आदि अपूर्वरूप धर्म) होने से द्रव्य, गुण, विकार, अविक्रम और प्रतिषेध में समवाय से चोदनानुबन्ध होता है।

तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ॥४१॥

पूर्व०—परिधि में यूप के धर्म नहीं करने चाहिए, क्योंकि यूप वे पर्म पशु के नियोजन (बौधन) के लिए हैं।

आवेदयेरन् याऽर्थवत्त्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४२॥

सिं०—संस्कार के पशु-बन्धनरूप कार्य में नियुक्त होने से उसी में उसकी सफलता होने से यूप के धर्म परिधि में भी कर्तव्य है।

आप्या चेष्टं तदावेशाद्विकृतो स्यादपूर्वत्वात् ॥४३॥

परिधि में संस्काररूप शक्यता के अवच्छेदक होने से यूप शब्द की प्रवृत्ति है प्रीत अपूर्व के निमित्त होने से विकृति में भी यूप शब्द है; परन्तु यूप शब्द ऊहितव्य नहीं है अर्थात् यूप शब्द के स्थान में परिधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

परार्थं न त्वर्यसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

पूर्व०—प्रधान याज के लिए दधि और सूत में प्रणीता धर्म नहीं है और प्रणीता कार्यान्वयित्व सी नहीं, क्योंकि उत्पवनादि संस्कार हृषि:प्रणण के लिए होते हैं।

क्रियेरन् याऽर्थनिवृत्तेः ॥४५॥

सिं०—हृषि:प्रणण भी दधि और पय में निष्पल होने से उसमें उत्पवन आदि धर्म भी कर्तव्य है।

एकार्थत्वादिभागः स्यात् ॥४६॥

पूर्व०—बृहद् और रथन्तर धर्मों का एक प्रयोजन होने से विभाग नहीं हो सकता।

निवेशाद्वा व्यवतिष्ठेन् ॥४७॥

सिं०—निवेश-ग्रेद (रथन्तर में ऊंची मावाज से नहीं गाना चाहिए और बृहद् में ऊंची मावाज से गान करना चाहिए) होने से व्यवस्था ही जाएगी।

शपाहृते तद्विकाराद्विरोधोपाद्व्यवतिष्ठेन् ॥४८॥

विकृतिसूत कार्य रथन्तर में बृहद् और रथन्तर का विकार होने से विरोध के कारण व्यवस्था ही जाएगी।

उभयसाम्नि चेष्टेकार्थापत्तेः ॥४९॥

पूर्व०—'गोसव' आदि ऋतु में दोनों सामों (बृहद् और रथन्तर) की प्राप्ति है, भरतः प्रत्येक स्तोत्र में दोनों धर्मों की प्राप्ति है।

स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्थापत्तिवत् ॥५०॥

सिं—जैसे प्रकृति—ज्योतिष्ठोम याग में वृहद् के धर्म वृहद् में और रथन्तर के धर्म रथन्तर में होते हैं, उसी प्रकार दो सामवाले यागों में भी वृहद् और रथन्तर साम के दो धर्म होने से व्यवस्था हो जाएगी ।

पार्वणहोमयोस्त्ववृत्तिः समुदायार्थसंयोगात्तदभीज्ञा हि ॥५१॥

वैकृतकर्म में पार्वण होम की प्रवृत्ति नहीं होती, पौर्णमासात्रिक रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से, क्योंकि इज्ञा—याथ समुदाय के उद्देश्य से कर्तव्य है ।

कालस्येति चेत् ॥५२॥

पर्व शब्द काल का वाचक है, यदि ऐसा कहो तो—

नाप्रकरणत्वात् ॥५३॥

प्रकारण न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ।

मन्त्रवर्णन्त्वात् ॥५४॥

ग्रोर, मन्त्र के वर्ण से भी समुदाय के लिए ही इज्ञा होती है ।

तदभावेऽग्नियदिति चेत् ॥५५॥

जिस प्रकार यागार्थ से सन्निहित और असन्निहित भग्नि का आवाहन किया जाता है, उसी प्रकार समुदाय के प्रभाव में भी ही सकता है, यदि ऐसा कहो तो—

नाधिकारिकत्वात् ॥५६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऋतु के संस्कार के लिए पार्वण होम का अधिकार है ।

उभयार्दीवेषेषात् ॥५७॥

पूर्व०—पौर्णमासी और प्रमावास्या—दोनों में विशेषता न होने से दोनों ही दोनों में हो सकते हैं ।

यदभीज्ञा वा तद्विषयो ॥५८॥

सिं—दोनों उभयन हैं, ऐसा नहीं है । जहाँ यह अभीज्ञा है, वहाँ वह होता है, क्योंकि वह उसका उपकारक है और दूसरे का अनुपकारक ।

प्रथाज्येति चेत् ॥५९॥

आक्षेप—प्रयाज में भी याग संस्काररूप है, यदि ऐसा कहो तो—

नाचोदितत्वात् ॥६०॥

समां—याग त्रय प्रत्येक वान्य में विहित न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

प्रकृतो यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततो तत्प्रकृतित्वादये
चाकार्यत्वात् ॥१॥

जैसे प्रकृति—दशंपौर्णमास में ग्रन्थों का उत्पत्तिवचन होता है, वैसे ही सौर्यादि

इष्ट में भी उसी मन्त्र के द्वारा वचन करना चाहिए, क्योंकि अर्थ में कार्यत्व = सामर्थ्य नहीं होता, अतः ऊह करना ग्रावर्यक है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

तथा, प्रमाण उपलब्ध होने से भी इसी तथ्य की सिद्धि होती है।

जातिनैमित्तिकं यथास्वानम् ॥३॥

जाति शब्द और नैमित्तिक शब्द दोनों ही यथास्वान ऊहितव्य होते हैं।

अविकारमेऽनार्यत्वात् ॥४॥

पू०—कुछ आचार्य अनार्य होने के कारण ऊह को स्वीकार नहीं करते।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

इस अर्थ में भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

विकारो वा तदुक्ते हेतुः ॥६॥

सिं०—ऊह करनी चाहिए। इसका हेतु प्रथम सूत्र में कह दिया गया है।

लिङ्गं मन्त्रचिकीष्यर्थम् ॥७॥

जो लिङ्ग कहा गया है, वह तो मन्त्र के करने की इच्छा के ही लिए है। ऊहित होने से वह अमन्त्र हो जाएगा।

नियमो वोभयभागित्वात् ॥८॥

अथवा, उभय भागी (दोनों मन्त्रों के साथ सम्बन्ध होने से) नियम होता है।

लौकिके दोषसंयोगादपवृत्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥९॥

लौकिक (यूप) स्पर्श में दोष का संयोग होने से मन्त्रपाठ करने का विधान है। निषिद्ध स्पर्शरूप निमित्त में ही मन्त्रपाठ का विधान है। वैदिक स्पर्श में निषेध न होने से मन्त्रपाठ का विधान नहीं है।

अन्यायस्त्वविकारेण दृष्टप्रतिघातित्वादिवशेषाच्च तेनास्य ॥१०॥

पूर्व०—अन्याय—दर्शपीर्णमास याग में कहा बहुवचनान्त अविकार से प्रवृत्त होता है, क्योंकि एक पाश में प्रतिघात दृष्ट नहीं होता और कोई विशेष भी नहीं है।

विकारो वा तदर्थत्वात् ॥११॥

तदर्थ होने से विकार = ऊह होता है।

अपि त्वन्यायसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वरि यथार्थं स्यात् ॥१२॥

जिस प्रकार प्रकृति में बहुवचनान्त और एकवचनान्त प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार विकृति में भी यथार्थ होता है, अन्याय = प्रकृति, दर्शपीर्णमास सम्बन्ध से।

यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१३॥

सिं०—अन्याय = प्रकृति के विहित न होने से यथार्थ अर्थात् द्विवचन का ही ऊहन करना चाहिए।

छन्दसि तु यथादृष्टम् ॥१४॥

छन्द = वेद में तो जैसा लिखा हो, वैसा ही पाठ करना चाहिए।

अन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१५॥

अर्थ का बाध अविहित है। ऊह करते समय अर्थ का बाध नहीं करना चाहिए।

विप्रतिपत्ति विकल्पः स्यात्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पने कदेशत्वात् ॥१६॥

किसी विरोध के होने पर ही विकल्प होता है। समत्व होने से गुणविभक्त्यर्थ में अन्याय की कल्पना होती है, प्रधान प्रातिपदिक आर्थ नहीं होता, एकदेशत्व होने से प्रातिपदिक को उत्कृष्ट करता है।

प्रकरजविशेषाच्च ॥१७॥

ग्रीष्म प्रकरण होने से भी प्रातिपदिक बद्धचन को आर्क्षित करता है।

उत्कर्षो वा द्वियज्ञवत् ॥१८॥

पूर्व०—बद्धचनान्तर्गत पदवाले मन्त्रों का उत्कर्ष द्वियज्ञ के मन्त्रों के समान करना चाहिए।

अथभावात् नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ॥१९॥

सिं०—द्वित्व विशिष्टरूप अर्थबोधक विधान का प्रकृत में अभाव है। दोनों में गुणमात्र है, अतः उत्कर्ष नहीं होगा।

आवोस्तयेति चेत् ॥२०॥

जैसे द्यावापृथिव्यादि अप्रकरण पठित अनुमन्त्रों का उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥२१॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्यावापृथिवी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द=प्रमाण नहीं हैं।

अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ॥२२॥

अपूर्व = प्रकृति में अविकार से प्रयोग करना चाहिए (ऊह नहीं करना चाहिए) अतिदेश की प्राप्ति होने से।

विकृतो चापि तद्वचनात् ॥२३॥

विकृतिभूत सौर्याशां में भी प्रकृति = दर्शपौर्णमासेष्ट के समान ही करना चाहिए।

अतिगुः सवनीयेषु तद्वचनविधानश्चेत् ॥२४॥

आक्षेप—यदि समान विधान हो तो 'अतिगुःप्रैष' मन्त्र को भी सवनीयों में उसी प्रमाण से ऊह नहीं होगा।

प्रतिनिधि चाविकारात् ॥२५॥

समां०—ब्रीहि के अभाव में नीवार प्रतिनिधि हो तो ऊह किये बिना ही मन्त्र पाठ करना चाहिए।

अनामानादवाङ्मत्वमभावाच्चेतरस्य स्याद् ॥२६॥

यदि मन्त्र में ब्रीहि शब्द का पाठ न हो और इतर नीवार का अभाव हो तो अभिधान की सिद्धि के लिए नीवार शब्द का ऊह करना चाहिए।

तादृश्यद्वा तदास्यं स्यात्संस्कारेरविशिष्टत्वात् ॥२७॥

सिं०—नीवार ब्रीहि के लिए है और प्रोक्षण आदि संस्कार भी उसी के लिए हैं, अतः वह नीवाराश्य अविकार से प्रयुक्त करना चाहिए।

उत्तरं च तत्त्वमस्य ॥२८॥

इस विषय का तत्त्व (छठे अध्याय में) कह दिया गया है।

संसर्गमधु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ॥२९॥

पशुओं का भेद होने पर भी संसर्गवाले पदार्थों में परिमाण के स्थित न होने से उह नहीं होता।

लिङ्गदर्शनान्त्र ॥३०॥

तथा, प्रमाण उपलब्ध होने से भी संसर्गवाले पदार्थों में उह नहीं होता।

एकदेव्येकसंयोगादस्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयस्यत् ॥३१॥

एक के संयोग होने से, एक समय उच्चारण होने से, तब पशुओं के साथ सम्बन्ध न हो सकने से एकधा शब्द का अभ्यास से अभिधान करना चाहिए, अतः उह करनी चाहिए।

अविकारो वा वृहनामेककर्मवत् ॥३३॥

पूर्व०—बहुत-से कर्मों के स्वीकरण की भाँति अविकार होता है, उह नहीं होता।

सकृत्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात्

परेष्वस्यासे नंवं विवृद्धाविभानं स्यात् ॥३२॥

स्ति०—प्रकृति याग में एक समय में एक पशु देव्य होने से उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति की आवश्यकता नहीं परन्तु विकृति याग में पशुओं की वृद्धि होने से 'एकधा' शब्द की आवृत्ति अभ्यास से होती है।

मेघपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वं च प्रयुक्तत्वात्

तस्यान्यायनिगदत्वात्सर्वं चैवाविकारः स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—स्वामी, मेघपति और देवता—इन दीर्घों का उस मेघपति के प्रति आधिपत्य होने से समवाय होने के कारण और सर्वं—सब देशों में पति शब्द का आश्रित्य में प्रयोग होने से और उसके अन्याय (प्रकृति) निगदित होने से सर्वं अविकार ही होता है, उह नहीं होता।

अथ च द्विसम्बायोऽवन्यित्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात् ॥३५॥

अथवा, द्विवचनान्त पद का प्रयोग देवता में और एकवचनान्त का प्रयोग स्वामी—यजमान में होने से यथासंख्य—क्रमानुसार प्रयोग होता है।

स्वाभिन्नो चैकशब्दावृत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ॥३६॥

अथवा, दोनों मन्त्रों में यजमानस्य स्वामी का ग्रहण है। एकार्थप्रतिपादक शब्द के प्रयोग होने से जो देवतावाच्य हो तो एकवचनान्त पद का उत्कर्ष होता है और यजमानवाच्य हो तो द्विवचनान्त पदवाले मन्त्र में पत्नी के साथ यजमान समझने से द्विवचन भी सार्थक हो सकता है।

देवता तु तदाशीष्टवात्सम्प्राप्तत्वात्त्वामिन्यत्विका स्यात् ॥३७॥

स्ति०—मेघपति का वाच्य देवता है। देवता के उद्देश्य से मेघ होता है। यदि स्वामी-परक माना जाए तो यजमान के सत्त्व की मेघ में प्राप्ति होने से 'मेघं मेघपतिभ्यामा-पासामा'—यह वाक्य निरर्थक हो जाता है।